

ज्ञानार्णव प्रवचन सप्तदश भाग

सहजानंद शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

सप्तदश भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानार्णव प्रवचन सप्तदश भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु कु. प्रतीक्षा जैन, गांधीनगर, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं। सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	4
श्लोक-1599	9
श्लोक-1600	10
श्लोक-1601	11
श्लोक-1602	12
श्लोक-1603	15
श्लोक-1604	16
श्लोक-1605	20
श्लोक-1606	22
श्लोक-1607	24
श्लोक-1608	26
श्लोक-1609	27
श्लोक-1610	28
श्लोक-1611	30
श्लोक-1612	32
श्लोक-1613	33
श्लोक-1614	35
श्लोक-1615	37

श्लोक-1616,1617	38
श्लोक-1618	39
श्लोक-1619	44
श्लोक-1620	47
श्लोक-1621	49
श्लोक-1622	49
श्लोक-1623	51
श्लोक-1624	53
श्लोक-1625	54
श्लोक-1626	55
श्लोक-1627	56
श्लोक-1628	58
श्लोक-1629	60
श्लोक-1630	60
श्लोक-1631	62
श्लोक-1632	64
श्लोक-1633	66
श्लोक-1634	67
श्लोक-1635	68
श्लोक-1636	69
श्लोक-1637	69
श्लोक-1638	70
श्लोक-1639	71
श्लोक-1640	72

श्लोक-1641	74
श्लोक-1642	75
श्लोक-1643	77
श्लोक-1644	77
श्लोक-1645	78
श्लोक-1646	79
श्लोक-1647	80
श्लोक-1648	81
श्लोक-1649	82
श्लोक-1650	83
श्लोक-1651	86
श्लोक-1652	88
श्लोक-1653	89
श्लोक-1654	91
श्लोक-1655	93
श्लोक-1655	94
श्लोक-1656	95
श्लोक-1657	96
श्लोक-1658	98
श्लोक-1659	100
श्लोक-1660	101
श्लोक-1661	103
श्लोक-1662	105
श्लोक-1663	108

श्लोक-1664	109
श्लोक-1665	110
श्लोक-1665	113
श्लोक-1666	115
श्लोक-1667	117
श्लोक-1668	119

ज्ञानार्णव प्रवचन सप्तदश भाग

श्लोक-1599

अनादिविभ्रमान्मोहादनभ्यासादसंग्रहात्।

ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्वं प्रस्खलत्येव योगिनः॥1599॥

योगी मुनि आत्मा के स्वरूप को जानते हुए भी अनादिकाल से ऐसे भ्रम में लगे हैं कि उसकी वासना से तथा मोह के उदय से अभ्यास अभाव से तथा उस तत्त्व के परिचय करने अप्रयत्न से यह जीव मार्ग से च्युत हो जाता है याने योगी मुनि एक बार यथार्थस्वरूप को जान भी ले तो कुछ कारण ऐसे बनते हैं कि जिनसे वे मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। यह कथन करके आचार्य महाराज इस बात के लिए सावधानी देते हैं कि किसी भी प्रकार तत्त्व का परिचय होने पर फिर उस परिचय से न गिर जायें। उस तत्त्व की यादगारी बने रहे, इसके लिए प्रयत्न बनाये रहना चाहिए और इसका प्रयत्न यह है कि जो जाना गया तत्त्व है उस तत्त्व का बराबर निर्णय बना रहे, मैं शरीर से भी न्यारा, कर्मों से भी न्यारा रागादिक भावों से भी जुदा ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्यतत्त्व हूँ और फिर भेदविज्ञान के द्वारा यह निर्णय करके जो अनात्मतत्त्व है उसको छोड़े और जो आत्मस्वरूप है उसमें अपनी दृष्टि जमायें, ऐसा प्रयत्न बराबर जारी रखना चाहिए अन्यथा किसी भी समय मोह के वेग में ऐसी परिस्थिति बन जायगी कि बहुत कठिनाई से कमाया हुआ तत्त्व हमारे उपयोग से छूट जायगा। देखिये संसार में धन वैभव की कोई कीमत नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रकट भिन्न चीज है। इससे आत्मा का कोई हित नहीं है, और फिर साथ ही यह भी एक अपना निर्णय रखिये जो कि यथार्थ तत्त्व की बात है कि बाह्य धन वैभव सम्पदा आदिक का समागम जितना पुण्य का उदय है उसके अनुसार रहता है। यदि पुण्य का उदय है तो वह अपने आप सहज ही मिलता है और यदि उदय प्रतिकूल है तो जिस चाहे बहाने वह चला जाता है। तो हिम्मत अपनी इतनी बनाना चाहिए कि यह धन वैभव आये अथवा न आये, उससे हमारे आत्मा का कुछ भी हित नहीं है, मुझे तो तेरे अपने आत्मा की सुध बराबर बनी रहे, यही एक उत्कृष्ट वैभव है। यदि यह न प्राप्त किया जा सका तो तीन लोक की सम्पदा भी निकट मौजूद हो तो वह सब व्यर्थ है। ऐसा अपना निर्णय बनाकर परतत्त्वों से अपना उपयोग हटाएँ और अपने आपके स्वरूप में अपना उपयोग जमायें। सो योगी पुरुष निरन्तर सावधान रहा करते हैं।

श्लोक-1600

अविद्यावासनावेशविशेषविवेशात्मनाम्।

योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम्॥1600॥

आत्मा के स्वरूप को यथार्थ कोई जान भी लेता है और उस ज्ञान को अपने में जोड़ता भी रहता है, ध्यान को एकाग्र करता भी रहता है इतने पर भी अनादिकाल से जो अविद्या लगी आयी थी उस अविद्या के नष्ट होने पर भी उसकी लगार वासनारूप में एक ऐसी कठिनता उत्पन्न कर देते हैं कि एक बार प्राप्त किया हुआ तत्त्व भी अपने उपयोग से निकल जाता है। लोक में तत्त्व केवल इतना है कि समस्त परद्रव्यों से अपना उपयोग हटे और एक परमविश्राम आए। वहाँ ही तत्त्व अपने को विदित होता है। संसार में जितने भी समागम मिले हुए हैं वे चेतन समागम हों अथवा अचेतन समागम हों, अर्थात् परिवार सम्बन्धी इष्ट मित्रजन हों, अथवा धन सम्पदा हो, सभी समागम अपने से भिन्न हैं और अपने से नियम से जुदा होंगे। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं। अतएव इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि जो समागम अपने को प्राप्त होते हैं वे आकुलता उत्पन्न करने के लिए प्राप्त होते हैं। तभी तो बड़े-बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती जन जिस क्षण उनके वैराग्य जगता है समस्त वैभवों को तृण की नाई त्याग देते हैं, उन वैभवों को अपने उपयोग में स्थान नहीं देते। और ऐसा जो अपने हित में सावधान रहते हैं उन्होंने ही वास्तव में तत्त्व पाया है, और वहाँ ही उनकी रक्षा होती है। यदि असावधानी की गई तो अपने आपको जो स्वरूप प्राप्त है वह भी नष्ट हो जाता है। यद्यपि यह सिद्धान्त का कथन है कि जिसे सम्यक्त्व एक बार उत्पन्न हो गया उसका नियम से मोक्ष होगा ठीक है यह बात, लेकिन यह भी बात सिद्धान्त में बताया है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद यदि सम्यक्त्व नष्ट हो जाय तो वह कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल एक संसार में रूलता रहता है। इतने काल में अनन्त भव हो जाते हैं। यों समझिये कि जैसे एक अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल आता है, अवसर्पिणी काल में 24 तीर्थंकर होते हैं और उत्सर्पिणी काल में भी 24 तीर्थंकर होते हैं चतुर्थ काल में। ऐसे-ऐसे अनगिनते काल व्यतीत हो जाते हैं, इतना अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल है। तो सम्यक्त्व छूटकर इतने काल तक तुम्हें रूलते रहना इष्ट है क्या? यदि इष्ट न हो तो कर्तव्य यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने पर फिर उससे न च्युत हों और अपने ज्ञान और तत्त्व के अभ्यास में लगे रहें।

श्लोक-1601

साक्षात्कर्तुमतः क्षिप्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम्।

विशुद्धिं चात्मनः शश्वद्वस्तुधर्मे स्थिरीभवेत्॥1601॥

अपना परिणाम निर्मल बना रहे—इसके अर्थ यह कर्तव्य है कि जो ध्यान के लिए उत्तम तत्त्व निर्णीत होता है आत्मा का सहज ज्ञान और आनन्दस्वरूप, जो सबसे निराला है उस ध्यान के विषय में आत्मा के सहज ज्ञानस्वरूप में मन एकाग्रता से लगा रहे, यह आवश्यक है। इसमें विघ्न के अनेक कारण हैं। आते हैं लेकिन विघ्न के कारण हम अपना ज्ञानाभ्यास ऐसा बनाये रहें कि वे कारण हमें झकोर न सकें। कारण आते हैं बहुत। एक तो रागादिक भाव उत्पन्न करने में निमित्तभूत बाह्यपदार्थ सामने आ जायें, कर्मों का उस प्रकार का समय आ जाय, अपने भीतर बसी हुई वासना जागृत हो जाय, ऐसे अनेक कारण आते हैं जो हमारे ध्यान में विघ्न रूप होते हैं, उनको दूर करने के लिए कर्तव्य एक यह है कि जो हमने वस्तु का स्वरूप निर्णय किया है, आप लोग कुछ थोड़ा सा ध्यान करें कि जो अपना घर छोड़कर यात्रा में निकले हैं तो उसका लक्ष्य क्या है कि हमारे चित्त में धर्म की भावना आये, दर्शन करके, उन क्षेत्रों की वंदना करके जहाँ से मुनीश्वर मुक्त हुए हैं। हमारे चित्त में धर्म की भावना आये। वह धर्म की भावना क्या है ऐसा विचार बन जाय, ऐसा उपयोग रहे कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ। मेरा पहिचाननहार इस लोक में कोई दूसरा नहीं है, इस कारण जगत में किससे अपना सम्बन्ध बढ़ाना, किससे राग अथवा किससे द्वेष करना? समस्त परद्रव्यों से उपेक्षा रखें और अपने आपके इस ज्ञानानन्द स्वरूप में स्थिर होने का यत्न करें, यह धर्मध्यान की सिद्धि का एक खासा उपाय है। देखिये इस क्षेत्र में अथवा कर्मभूमि के जगत में वियोग, दुःख, वेदना, कष्ट, परीषह, विडम्बनाएँ अनेक आती हैं। लेकिन इन सब विपत्तियों का आगमन हमारे भले के लिए है। जैसे भोगभूमि में स्वर्गों में इष्ट वियोग नहीं होता, कोई शारीरिक वेदना नहीं होती, किसी प्रकार का कष्ट नहीं रहता तो वे लोग मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते। उनकी गति अति उच्च नहीं बन सकती। तो ये परीषह, उपद्रव हमारे भले के लिए हैं। अपने आपको तौलें, परिचय करें, हम जिस तत्त्व की हामी भरते चले आये हैं, मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूँ, मेरा ज्ञाता द्रष्टा रहना स्वभाव है, जगत में मेरा कहीं कुछ नहीं है। यहाँ पर अनेक प्रकार के कष्ट हैं, उन कष्टों से अज्ञानी पुरुष तो घबड़ा जाते हैं, पर सम्यग्दृष्टि जीव इन विपदाओं से अपने स्वरूप से चलित नहीं होता, सर्वज्ञ ज्ञाता द्रष्टा रहता है। इस प्रकार का जो अपना दृढ़ परिणाम बनाते हैं वे योगीश्वर ही धर्मध्यान के वास्तविक पात्र होते हैं।

श्लोक-1602

अलक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा॥1602॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष पहिले तो अपने लक्ष्य का निर्णय करे और वह लक्ष्य जैसा कि उसका जो ज्ञान और आनन्द स्वरूप है वह सही रूप में विकसित हो जाय तो ज्ञान और आनन्द भाव के साथ किसी विकार तरंग का सम्बंध नहीं रहता। कोई रागद्वेष न आये, केवल ज्ञान का परिणमन होना यही लक्ष्य में आता हो। यही लक्ष्य में आये, देखने में आये, समझाने में आये, पर इस लक्ष्य से, इस समझ से इतनी और मजबूती बनायें कि लखा हुआ भी लक्ष्य में न रहे, किन्तु उस लखे के द्वारा कोई अलौकिक अलखनिरञ्जन ज्ञानतत्त्व समझ में आये तो तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रथम तो लक्ष्य के सम्बन्ध से अलख को जाने और स्थूल पदार्थ से खिसककर सूक्ष्म चेतन का चिन्तन करे और फिर किसी ध्येय का आलम्बन जो ले रहे थे सो चलने दे, फिर ध्यान के आलम्बन को लेकर उससे फिर निरालम्ब वस्तुस्वरूप में तन्मय हों, याने उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म यत्न करें। देखो जितना भी गहरा चिन्तन होगा, जितना हमारे सूक्ष्म अर्न्तमग्न होने का यत्न होगा उतनी ही हमारी परिणति की विशेषता होगी, उतना ही हमारा अन्तः परिश्रम विशेष होगा। और जब यह हमारा ज्ञायकभाव, ज्ञानस्वरूप परमात्मतत्त्व जो कि स्वयं सहज पहिले से ही सनातन मौजूद था वह एकदम प्रकट होगा। इसे कहते हैं टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव की परिणति।

जैसे छेनी से उकेरी हुई प्रतिमा निश्चल रहती है, स्वयं प्रकट होती है इसी प्रकार ज्ञान के अभ्यास से कभी निजी परमात्मतत्त्व सहज प्रगट होता है और निश्चल बनता है, उसे बनाने के लिए कहीं बाहर में कुछ नहीं करना है। पत्थर में जो मूर्ति प्रकट होगी वह मूर्ति उस ही पत्थर के अन्दर मौजूद है। उस मूर्ति को बनाने के लिए बाहर से कुछ लाना नहीं पड़ता। कारीगर को वह मूर्ति उस पत्थर में दिख गई जिसे प्रकट करना है। अब वह कारीगर उस मूर्ति को ढकने वाले आवरण हटाने का प्रयत्न करता है। उस मूर्ति का आवरण करने वाले जो पत्थर हैं उनको मोटी छेनी से हटाता है। वह उस कारीगर का प्रथम प्रयत्न है। फिर दूसरी बार के प्रयत्न में बहुत छोटी छेनी लेकर मूर्ति के ऊपर के आवरण को हटाता है, फिर तीसरी बार के प्रयत्न में अत्यन्त मोटी छेनी लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म आवरणों को हटाता है। इस बार के प्रयत्न में उसकी अत्यन्त सावधानी रहती है जिसे देखकर लोग यह कह देंगे कि दो तीन दिन से तो यह कुछ काम ही नहीं कर रहा है। लेकिन इस तीसरे बार के प्रयत्न में उसे बड़ी बुद्धि लगानी पड़ रही है। यों वह मूर्ति जो कि उस पत्थर के अन्दर मौजूद थी, तैयार हो जाती है। तो उस मूर्ति को कारीगर ने नहीं बनाया है। मूर्ति तो उस

पत्थर के अन्दर पहिले से विराजमान है, उसने तो केवल उस मूर्ति के आवरण करने वाले पत्थरों के हटाने-हटाने का ही काम किया है। उस मूर्ति में कहीं बाहर से लाकर लगाया कुछ नहीं। इसी तरह हम सबके अन्दर वह परमात्मत्व जो सिद्धरूप में कभी प्रकट होगा वह परमात्मत्व सबके अन्दर विराजमान है, कोई आत्मा परमात्मात्त्व को बनाता नहीं है किन्तु उस परमात्मत्व आवरण करने वाले जो विषयकषाय के परिणाम हैं, शरीर का सम्बंध है, कर्मों का बंध है उसे हटाया जाता है। कर्मबंध हटा, शरीर का सम्बंध हटा और रागादिकभाव हटे तो वह परमात्मत्व स्वयं अपने आप प्रकट हो जाता है।

परमात्म की दिशा में प्रयत्न चलेगा वह पहिले एक मोटेरूप में प्रयत्न चलेगा। मोटे रूप में यह जान जायगा कि लो ये समस्त पदार्थ धनवैभव सम्पदा आदिक अनित्य हैं, भिन्न हैं, इनसे मेरा कोई सम्बंध नहीं है। देखो इस क्षण विभावों को अपने से भिन्न बनाने का यह एक मोटा प्रयत्न है, अभी इसे और प्रयत्न करने होंगे। इस प्रयत्न में इसे कुछ सफलता प्राप्त हुई। अब जरा और भीतर चलें तो ऐसा विचारें कि मुझमें जो रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं ये मेरी चीज नहीं हैं, इन स्वरूप में नहीं हैं। जैसे कि दर्पण के सामने जो भी चीजें आ जाती हैं वे सब चीजें प्रतिबिम्बित हो जाती हैं, वे चीजें जो भी दर्पण में प्रतिबिम्बित हुईं वे दर्पण की चीज नहीं हैं, यद्यपि वह प्रतिबिम्ब दर्पण का परिणमन है लेकिन सामने बाहर में उपाधि का निमित्त पाकर प्रतिबिम्बित होता है, वह प्रतिबिम्ब दर्पण की चीज नहीं है, इसी प्रकार उस-उस जाति की कर्मप्रकृतियों का उदय होने पर आत्मा में रागद्वेषादिक का परिणमन होता है। यद्यपि यह परिणमन उस शरीर में आत्मा का है तथापि ये रागादिक विभाव आत्मा की निजी चीज नहीं हैं, आत्मा के स्वभाव से आत्मा में बने रहते हों ये रागादिक विभाव ऐसा नहीं है। ये रागादिक परिणमन होते तो हैं आत्मा में, लेकिन कर्मोदय की उपाधि का निमित्त पाकर होते हैं। तब यह ज्ञानी जीव दूसरे प्रयत्न का विचार कर रहा है कि ये रागद्वेष विभाव मेरे नहीं हैं, मैं इनसे निराला हूँ, मेरा स्वभाव तो आनन्द को प्रकट करने वाला है और यह रागादिक विभावों की प्रकृति आत्मा को कष्ट में, उलझन में डाल देने वाले हैं। कहाँ तो मेरा आनन्दस्वरूप और कहाँ ये दुःखस्वरूप रागादिकभाव, ये मैं नहीं हूँ। दूसरे प्रयत्न में सम्यग्दृष्टि कारीगर ने जो परमात्मत्व का निर्णय करने के लिए चला है, रागादिक विभावों से अपने को दूर करता है। तीसरे प्रयत्न में यह सम्यग्दृष्टि जीव निरखता है कि मेरे में जो विचार विकल्प छुट पुट जानकारी उत्पन्न होती हैं ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, मैं तो एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ज्ञानस्वभावी इन सबसे निराला हूँ। अब देखिये तीसरे प्रयत्न में सम्यग्दृष्टि पुरुष इन विकल्प विचारों को छुटपुट ज्ञानों को भी अपने से दूर करता है। इस प्रकार से आत्मा में आवरण करने वाले समस्त रागादिक विभाव दूर हो जाते हैं। तो यह अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द को लिए हुए यह परमात्मत्व स्वयं सहज प्रकट हो जाता है। और प्रकट होकर फिर निश्चल बना रहता है। तो यह परमात्मा टंकोत्कीर्णव्रतप्रतिमा की तरह पूर्ण निश्चल है और स्वयं सिद्ध है।

परमात्मतत्त्व का ध्यान कराने के लिए यह योगी पुरुष लक्ष्य से अलक्ष्य में पहुँच रहा है। अभी तक जो पर का आलम्बन ले रहा था उनसे हटकर अब निरालम्ब ज्ञानस्वरूप में प्रवेश कर रहा है। यहाँ यह बताया गया है कि दृष्टि पदार्थ के सम्बंध से अदृष्ट का ध्यान करना। तो दृष्ट पदार्थ क्या हुआ? जैसे हम अरहंत को जानते, सिद्ध को जानते, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी को जानते, इन्हें हम किसी प्रकार देख तो लेते हैं ना। तो यह सब अदृष्ट का ध्यान है। अदृष्ट का ध्यान करके अर्थात् अरहंत और सिद्ध का ध्यान करके कुछ और आगे उतरे और अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है जो कि अदृष्ट है उस अदृष्ट में कुछ आये, तो अदृष्ट से अदृष्ट में आये, और परमेष्ठी का आलम्बन लेकर जो हम अपना ध्यान बना रहे थे वह ध्यान तो एक आलम्बन सहित था। अब उस आलम्बन को छोड़कर एक मात्र ज्ञानस्वरूप के अनुभव में उपयोग रहे। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष को उपदेश किया है आचार्यदेवों ने कि इन सबसे हटकर अपनी इस अदृष्टि में आये। देखिये हमारा जो दृष्ट का आलम्बन होता है वह आलम्बन हमें चैन से नहीं रहने देता। किसी में हमारे प्रीति जगती हे तो वह भी हमारे क्लेश के लिए है। चिंता करके करेंगे क्या? कुछ बंध जायेंगे, और बंधकर हम अपना आराम खो देंगे और कल्पना में हम दूसरे के आराम के लिए बहुत-बहुत कष्ट सहेंगे। राग में फल मिला क्या, अपना आराम खो देंगे, दूसरों के आराम के लिए बड़े-बड़े कष्ट सहेंगे। फल क्या मिला, अपना आराम खोया और परिश्रम में लगे, कष्ट में लगे।

किसी पुरुष में द्वेष करने में भी लाभ क्या मिला? द्वेष किया जाता हे किसी राग के कारण, किसी विषय में राग हो और उस विषय में कोई दूसरा बाधा डाले अथवा बाधा तो नहीं डालता, वह तो अपने स्वार्थ से अपनी शान्ति के लिए अपनी चेष्टा करता है। अगर हम उसे बैरी समझ लेते हैं तो ऐसे बैरी से भी द्वेष करने से हमको तत्काल तो अशान्ति हुई, और फिर हमारी बुद्धि हरी गई। तो बुद्धि का कुछ सदुपयोग न कर सके। उससे भी हम कष्ट में ही आयेंगे। दूसरे जिसे अपना बैरी माना है उसकी ओर से भी विपत्ति की बात आ सकती है, वह भी अपना बदला चुकाने के लिए सोचेगा। तो द्वेष करके भी हमने क्या लाभ उठाया? देखते जाइये—संसार के किसी भी भाव में, किसी भी परिणाम में अपने आत्मा की भलाई नहीं है। एक जो अधिक हंसी की, मौज की प्रवृत्ति रहा करती है उससे भी कुछ लाभ की बात नहीं मिलती। वे सब एक विकल्प हैं, बरबादी के ही परिणाम हैं, इनसे आत्मा का कुछ भी हित नहीं होता बल्कि उन परिणामों से अपने में कायरता आती है। उससे अपनी हानि ही हुई। अन्यथा तो यह विचार करना चाहिए कि हम अपने स्वरूप को जानें कि मेरा स्वरूप अमर है, अविनाशी है। मुझे यहाँ किसी का डर नहीं है, यथाशक्ति ऐसी भावना बनायें। किसी पदार्थ से ग्लानि करके भी आत्मा ने क्या लाभ पाया? आत्मा में एक आकुलता ही मची। तो संसार के ये सभी भाव, ये सभी समागम आत्मा के अहित के लिए हैं, इनसे अपनी बुद्धि हटाये और आत्मा का जो सहज ज्ञानानन्द स्वरूप है उसमें रमने का अधिकाधिक यत्न करें, इसमें ही हम आपकी

भलाई है। यही धर्म का पालन है। यही हम आपका साथ निभायेगा, इस ही परमात्मस्वरूप में अनुराग करें और इसके लिए अरहंत सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान लगाकर धर्मध्यान में अपना उपयोग लगायें।

श्लोक-1603

आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा।

विचयो यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम्॥1603॥

संसार के प्राणी ध्यान के बिना नहीं रहते। प्रत्येक जीव का कोई न कोई ध्यान बनाही रहता है। जिन जीवों के मन है वे तो मन के द्वारा ध्यान करते हैं और जिनके मन नहीं है, असंज्ञी जीव हैं उनकी वासना के ही द्वारा ध्यान होता रहता है। तो जो असंज्ञी जीव हैं, जैसे एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असेनी पञ्चेन्द्रिय, इनके मन नहीं है इसलिए ये अच्छा ध्यान नहीं कर सकते। तो मनरहित जीव के तो रौद्रध्यान और आर्तध्यान ही रह सकता है। कोई मनसहित जीव के आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान चार प्रकार के ध्यान हो सकते हैं। उनमें दो ध्यान तो आर्त और रौद्र ये संसार के कारण है, इनसे कष्ट उत्पन्न होता है। और धर्मध्यान व शुक्लध्यान ये मोक्ष के कारण हैं। उनमें से प्रथम धर्मध्यान होता है। धर्मध्यान के 4 भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, उपायविचय, संस्थानविचय, भगवान की आज्ञा को प्रधान करके चिन्तन करना सो आज्ञाविचय धर्मध्यान। जिस ज्ञानी पुरुष के आज्ञाविचय धर्मध्यान हो सो वह भगवान ने कहा है इसलिए माने सो नहीं, युक्ति भी उसके पास है, अनुभवन भी उसके पास है लेकिन कुछ इस ध्यान में ऐसी विशेषता है कि भगवान की आज्ञा की प्रधानता हो आती है। जैसा कि 7 तत्त्वों के बारे में जो स्वरूप बताया है तो अपनी युक्ति से भी समझते हैं। जीव अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं उन 5 तत्त्वों के बनने में। यहाँ अजीव को माना कर्म। अजीव में कर्म आये सो आस्रव। आस्रव कोई अपने विरुद्ध चीज आये तो वह गड़बड़ी की कारण बनता है। जीव में अजीव बंधे सो बंध। जीव में अजीव न आये सो सम्वर। जीव में से अजीव आना कर्म निकलना सो निर्जरा और जब कर्मसमूह विनष्ट हो जाय तो मोक्ष होता है। युक्ति से भी जानते हैं कि हाँ बिल्कुल ठीक है, जीव केवल एक अकेला रहता, इसमें अभाव नहीं आता तो इसको कोई प्रकार का कष्ट न था। पर जीव के साथ विरुद्ध चीज जो अजीव की उपाधि लगी है उससे यह कष्ट में आ गया, यह अनुभव भी बताता, युक्ति भी बताता, इतने पर भी भगवान ने यह बताया है, प्रभु ने यह बताया है ऐसी प्रधानता रहती है चित्त में इसलिए उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। अपायविचय धर्मध्यान में अपाय का चिन्तन होता है और उपायविचय धर्मध्यान में उपाय का चिन्तन होता है। अपाय मायने रागादिक विभाव। कब

मेरे रागादिक खोटे परिणाम नष्ट हों, कब मैं विशुद्ध परिणाम में आऊँ, इसका नाम अपायविचय धर्मध्यान है। दूसरा है विपाकविचय। विपाक नाम है कर्म फल का। कर्म कैसी प्रकृति रखते हैं, उनके उदय काल में किस जीव को कर्मफल भोगना होता है, उनकी वस्तुओं का वर्णन करना, चिन्तन करना विपाकविचय धर्मध्यान है। तीसरा है संस्थानविचय धर्मध्यान। इसका बहुत बड़ा विस्तार है। तीन लोग तीन काल में जो-जो बातें गुजर रही हैं, झलक रही हैं उन सबको संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं। ये चार प्रकार के धर्मध्यान सम्यग्दृष्टि पुरुष के होते हैं। वैसे वर्तमान प्रणाली में चल रहे चौबीस ठाना में बताया दूसरे गुणस्थान में। उसके उपदेश का प्रयोजन है सम्यक्त्व की प्राप्ति। उस समय इस जीव को भगवान की आज्ञा की प्रधानता हो जाती है। वस्तुतः धर्मध्यान का सम्बंध सम्यक्त्व के साथ है। सम्यक्त्व के बिना इस प्रकार का ध्यान करना एक प्रकार का शुभ भाव है, पुण्य बंध का हेतु है, और सम्यक्त्व के साथ इस प्रकार का ध्यान होना यह 7 वें निर्जरा तत्त्व को लिए हुए है। इन चार प्रकार के धर्मध्यानों में प्रथम जो आज्ञाविचय धर्मध्यान है, उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक-1604

वस्तुतत्त्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत्।
सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः॥1604॥

जिस धर्मध्यान में अपने सिद्धान्त में प्रसिद्ध वस्तुतत्त्व का चिन्तन सर्वज्ञ की आज्ञा की प्रधानता से किया जाय उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। तत्त्व के बारे में गहराई से विचार चल रहा है, वैज्ञानिक आधार पर भी चल रहा है और सब कुछ विचार करते हुए भी बराबर उपयोग में यह बात समाया करे कि भगवान जिनेन्द्रदेव की ऐसी आज्ञा है सो आज्ञाविचय धर्मध्यान बनता है। वस्तुस्वरूप कैसा है? जो वस्तु में अनादिकाल से अनन्तकाल तक अपने आप अपने सत्त्व की प्रतिष्ठा रखने के लिए जो लक्षण पाया जाय उसे वस्तु स्वरूप कहते हैं। जैसे जीव का स्वरूप चेतन, एक चेतना, ज्ञानदर्शन का प्रकाश, प्रतिभास होना, यह जीवतत्त्व में ही पाया जाता है, पुद्गल में प्रतिभास में योग्यता नहीं है, चेतने की योग्यता नहीं है, इसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य इनमें भी चेतना नहीं है। चेतना मात्र एक जीवतत्त्व में ही है। यह चैतन्य जीव में अनादि सिद्ध है। यह ही स्वरूप चैतन्यात्मक ही जीव है। सो वह चैतन्य यद्यपि स्वरूप में अनादिकाल से अनन्तकाल तक एक रूप रहता है और पदार्थ कोई भी ऐसा नहीं है जिसमें उत्पादव्यय न हो, नवीन पर्याय न आये, पुरानी पर्याय नष्ट न हो और फिर भी वस्तु रहे ऐसा कोई वस्तु नहीं। पदार्थ है कोई तो

उसका उत्पाद व्यय अवश्य है। ऐसा कोई तत्त्व कल्पना में लावो तो सही कि जिसमें परिणति कुछ न हो, अवस्था कुछ न हो और वह रहे। ऐसी बात तो कल्पना में भी नहीं आ सकती। इतने पर भी कोई अविकारी, अपरिणामी तत्त्व की कल्पना करो—जैसे एक ब्रह्म है, वह अविकारी है, अगोचर है, सबसे परे है, एक स्वरूप है, उसमें कुछ परिणमन ही नहीं है ऐसी कल्पना कर लो, परन्तु जब उसे परीक्षा की कसौटी पर कसते हैं तो अनुभव में ऐसी बात नहीं उतरती है कि हाँ अनुभव स्पष्ट कर दे, हाँ यह पदार्थ है। ये दृष्टि गोचर आने वाले स्कंध मायारूप हैं, ये सही इस रूप को स्वभावतः रखते हों ऐसा नहीं है। विनष्ट हो जाने वाले हैं, लेकिन नष्ट हो-हो कर भी कुछ न कुछ नई रचना बनाते रहते हैं। यह कभी नहीं हो सकता कि पदार्थ नष्ट हो जाय और वह नई रचना न बनावे। जैसे घड़ा फुट गया तो खपरियाँ बन गईं। घट के फूटने का नाम खपरियों का बनना है। और वे खपरियाँ भी मानो चूर-चूर हो जायें तो रेत बन गया। रेत का उत्पाद और खपरियों का व्यय एक ही बात है। कभी यह रेत वृक्ष भी बन जाय, वृक्ष के अंकुर में आकर ये परमाणु कभी वृक्षरूप भी हो जायें तो भी परमाणु रहेंगे, चाहे इनकी कोई बदल हो। तो जो पदार्थ होते हैं उनकी बदल अवश्य होती है, परिणमन स्वयमेव चलता रहता है, तो परिणमन बिना कोई पदार्थ नहीं रहता। तो यह चैतन्यात्मक जीवतत्त्व यद्यपि एक स्वरूप है तो भी इसमें नवीन-नवीन अवस्थाएँ बनती हैं और पुरानी-पुरानी अवस्थाएँ विलीन होती जाती हैं। पुरानी होती हैं फिर भी नवीन बनती रहती हैं। तो यह चैतन्य जो सामान्यविशेषात्मक है और इसी कारण ज्ञान एवं दर्शन के रूप में विदित होता है, वह चैतन्यात्मक तत्त्व उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त है।

यद्यपि यह आत्मा उतना सूक्ष्म पदार्थ है जैसा कि आकाश। अथवा धर्म, अधर्म, काल, द्रव्य। इनकी तरह अमूर्त है, सूक्ष्म है, इन्द्रिय से परे है, इतने पर भी आत्मा का जितना स्पष्ट ज्ञान अपने को हो सकता है उतना स्पष्ट ज्ञान किसी पदार्थ का नहीं हो सकता। बल्कि यों समझ लीजिए कि जिन पुद्गलों को हम आँखों से निरखते हैं और बहुत स्पष्ट समझते हैं वे भी उतना स्पष्ट नहीं हैं जितना स्पष्ट अपने आत्मा को अपने आत्मा का ज्ञान हो सकता है, पर इसके लिए थोड़ा विधि की आवश्यकता है। वह विधि है कि सर्वप्रथम तो अपने आत्मा को आत्मा की रुचि हो। संसार के किसी भी पदार्थ में कोई सार शरण तत्त्व नहीं है। जिस पदार्थ का सहारा लेते उस ही पदार्थ की ओर से धोखा मिलता है। यहाँ किसकी शरण गहें, किसका विश्वास करें, कोई पदार्थ यहाँ ऐसा नहीं जो आत्मा को शान्ति उत्पन्न करा दे। बाहर में कोई भी पदार्थ हमारे हित के लायक नहीं है, अतएव बाह्य पदार्थों की उपेक्षा करें। इससे एक विशुद्ध ज्ञान की जागृति होगी और एक अद्भुत आनन्द जगेगा। वही तो आत्मतत्त्व है। उस तत्त्व का अनुभव होने पर इस ज्ञानी जीव को अपने आपका आत्मा इतना स्पष्ट विदित होता है जितना स्पष्ट अन्य पदार्थ नहीं हो सकते। जिस पुद्गल को हम कहते हैं कि हमने भली प्रकार जान लिया, खूब समझ लिया वह सब परोक्ष ज्ञान है। और अपने आपके आत्मा का ज्ञान बने तो उसे स्वसम्बेदन पत्यक्ष मानें। तो ऐसा चैतन्यात्मक अंतस्तत्त्व सबसे निराला और अपने आपके परिणमन में स्वरूप में रहने वाला है ऐसा जीवस्वरूप को जाना इस आज्ञाविचयी धर्मध्यानी पुरुष ने।

परन्तु साथ में ही एक ऐसा भक्तिपूर्ण वचन बना रहता है कि जितेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है, जिनेन्द्रदेव की परम्परा से यह तत्त्व प्राप्त हुआ है। जिनेन्द्र की आज्ञा की प्रधानता उसके उपयोग में बसी है। ऐसा भक्तिप्रधान जीव है यह।

पुद्गल के स्वरूप का जब यह ज्ञानी चिन्तन करता है तो निर्णय बनाता है कि वास्तव में पुद्गल तो एक-एक अणु है। सिद्धान्त में जो पुद्गल के दो भेद किए हैं परमाणु और स्कंध, यह एक स्थूल विधि से किया है। पुद्गल तो एक ही है। अथवा यों समझ लीजिए कि जैसे जीव के दो भेद बताये गए हैं—मुक्त और संसारी, तो ऐसा कहने का अभिप्राय है शुद्ध जीव और अशुद्ध जीव। वैसे जीव के कई प्रकार न होंगे, जीव तो एक चैतन्यमात्र है फिर भी शुद्ध और अशुद्ध अवस्था बताने के लिए ये दो भेद किए गए हैं। इसी प्रकार पुद्गल की शुद्ध और अशुद्ध अवस्था बताने के लिए दो भेद किए गए हैं—परमाणु और स्कंध। परमाणु तो शुद्ध पुद्गल है क्योंकि वह एक ही अणुमात्र है, संयोगी पदार्थ नहीं है। और स्कंध अनेक अणुओं का मिलकर बना है, एक रूप है, वह मायारूप है, अशुद्ध रूप है, वह बिखर सकता है। तो पुद्गल के दो भेद एक विवक्षा से किए गए हैं। वास्तव में तो पुद्गल एक अणुमात्र है। जो पदार्थ अपने शुद्ध स्वरूप को तजकर अशुद्ध स्वरूप को ग्रहण करता है उस अशुद्ध स्वरूप को माया कहते हैं। माया का अर्थ है जो मिट जाय, औपाधिक रहे, और प्रकार दिखे। जैसे जीव तो वास्तव में एक विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानदर्शनमय है, पर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदिक रूप जो ये नजर आते हैं या बन रहे हैं ये सब माया हैं। इसी प्रकार एक परमाणु तो विशुद्ध रूप है, एकाकी है, अपने स्वरूप को लिए हुए है, पर उसका जो स्वरूप बनता है, अनेक परमाणुओं का मिलकर एक पिण्ड बन जाता है यह सब माया हैं, क्योंकि ये विनष्ट होंगे, और असली रूप में जैसा पुद्गल में होना चाहिए वह यह रूप नहीं है। यह औपाधिक रूप है अर्थात् यह स्कंध मायारूप कहलाता है। यह परमाणु अपने आपमें रूप, रस, गंध, स्पर्श शक्ति को लिए हुए है। अतएव वह मूर्तिक है। आत्मा अमूर्त है, पुद्गल मूर्त है। इसमें भेद डालने वाला लक्षण यह है। जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाया जाय उसे मूर्त कहते हैं और जो रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है उसे अमूर्त कहते हैं। अब देखिये इस देह में और अपने आत्मा में कितना विशेष अन्तर है, अत्यन्त विलक्षण है यह देह। आत्मा चैतन्यमात्र है, ज्ञान दर्शन स्वरूप है तो यह देह जड़ है, ज्ञानदर्शन से रहित है। यह देह रूप, रस, गंध, स्पर्शवान है, मूर्तिक है और यह आत्मा अमूर्त है। अत्यन्त भिन्नता है इस शरीर में और इस आत्मा में, फिर भी यह जीव इस देह को अपनाता है, अपनी मानता है। तो पुद्गल का लक्षण असाधारण जो है वह पुद्गल में अनादि से लेकर अनन्तकाल तक रहता है।

यह पुद्गल अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श स्वरूप को नहीं छोड़ता, ये मिलकर स्कंध बन जाते हैं पर यह बिछुड़बिछुड़कर कभी परमाणु भी बन जाते हैं पर वे परमाणु अपनी दृष्टि में नहीं आते हैं। एक युक्ति बता देती है कि कोई एक ढेला है उसे तोड़ दिया जाय तो उसके दसों टुकड़े हो गए तो वे हमारे लिए से उस पर

नहीं बने। किन्तु उसमें से निकलकर एक अणुमात्र रह जाय तो वे रह सकते हैं लेकिन पुद्गल में अणु बन भी जाय, लेकिन वह शुद्ध होकर सदा काल शुद्ध ही बना रहे—यह बात पुद्गल में नहीं है। वह शुद्ध होकर अशुद्ध बन जाती है और इसी कारण पुद्गल की विशेषता है। उसका नाम ही पुद्गल है। जो पूरे और गले उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल अपना यह स्वरूप नहीं छोड़ता। कभी अणु बन जाय तो भी वह अणु रूप रहे ऐसी बात नहीं निभ पाती है पर जीव में निभ जाती है, क्योंकि जीव के बंध के कारण तो रागादिक भाव हैं, सो रागादिक भावों का तो अभाव हो गया इस शुद्ध जीव के बंध का कोई कारण नहीं रहा, मगर पुद्गल में दूसरे पुद्गल के बंध का कारण पुद्गल में बंध जाने वाले स्निग्ध रूक्ष गुण हैं, वह स्निग्ध गुण पुद्गल की परिणति है। स्निग्ध में कोई परमाणु अवश्य रहेगा। अब अगुरुलघुत्व गुण के परिणमन से अथवा स्निग्ध रूक्ष गुण में भी स्वभावतः कुछ घटा बढ़ी चलती रहती है। जब दो या एक अणु का परस्पर में योग होता है तो वह फिर से स्निग्ध बन जाता है, स्कंध हो जाता है, अशुद्ध हो जाता है तो पुद्गल शुद्ध होकर भी अशुद्ध हो जाता है किन्तु जीव शुद्ध होकर अशुद्ध नहीं होता। एक बार मुक्त हुआ, अष्टकर्मों से रहित हुआ, शरीररहित केवल अनन्तचतुष्टयसम्पन्न सदाकाल बना रहता है। यह जीव और पुद्गल विभावों में एक विशेषता है। ऐसा सब कुछ चिन्तन करते हुए भी यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानीपुरुष जिनेन्द्रदेव के उपकार को नहीं भूल सकता। जिनेन्द्रदेव के उपदेश का हमें सार न प्राप्त होता तो हम और जीवों की भांति अज्ञान अंधेरे में ही रहते। कुछ तो निर्णय है, मैं सबसे निराला हूँ, मेरा कोई रक्षक, सुधारक, बिगाड़क इस संसार में नहीं है। मैं केवल अपने आपमें अपना अस्तित्व रखता हूँ, फिर मोह किसका, राग किसका? किसको हम अपना समझें—यह सब उसका निर्णय है? लेकिन जिनेन्द्रदेव की भक्ति में फिर भी प्रधानता रखे हुए है। भगवान ने ऐसा ही तो कहा है, युक्ति से सिद्ध है, अनुभव भी है, फिर भी भगवान की आज्ञा को नहीं भूलता।

तीसरा धर्म है धर्मद्रव्य। धर्मद्रव्य के बारे में ये ज्ञानीजन कुछ युक्तियों से भी विचार कर लेते हैं कि पदार्थ गमन करते हैं तो उनके गमन करने की लाइन हुआ करती है। यों ही जब सहज ज्ञान होता है तो पंक्ति के अनुसार गमन होता है। आकाश प्रदेश में ऊपर से नीचे, पूरब से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण सीधी-सीधी लाइन है। उन्हें श्रेणियाँ कहते हैं। तो जब जीव अपनी पर्याय छोड़ता है, अन्य पर्याय में जाता है तो यों ही टेढ़ा न चला जायगा। अगर पूरब से मरकर उसे कुछ आगे चलकर दक्षिण में उत्पन्न होना है तो जो सीध मिले इस तरफ न जायगा किन्तु जहाँ श्रेणियों की सीध मिले उस तरफ जायगा। पूरब से कुछ पश्चिम को आगे बढ़ जाता है, उत्पन्न होने योग्य जगह का सामना कर जाय, फिर पश्चिम से दक्षिण में जायगा। मुक्त जीव लोक से ऊपर जाकर विराजमान होते हैं। तो ढाई द्वीप के अन्दर जिस जगह से जो मुनि मुक्त हुआ वह उस ही जगह सीधा सिद्ध भगवन्त हो जाता है। यह गमनागमन का विचार धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य की सिद्धि के लिए चल रहा है। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल के गमन का हेतु है सो उदीर्णा का विचार नहीं है, चाहे गोल-गोल चला जावे, चाहे सीधा, वह तो गमन का निमित्त कारण है। धर्मद्रव्य चलते हुए जीव के

ठहराने का निमित्त कारण है, पर जीव पुद्गल शुद्ध होकर जब गमन करते हैं तो वे विदिशाओं में भ्रमण नहीं कर पाते, किन्तु नीचे से ऊपर जायें तो उसी सीध में, पूरब से पश्चिम जायें तो उसी सीध में, कुछ ऐसी रचनाएँ आकाश प्रदेशों में, यद्यपि है आकाश प्रदेश पर। कुछ कल्पना के लिए ऐसा ध्यान करिये कि जैसे बहुत बारीक अत्यन्त महीन कोई वस्तु हो तो उसे उसमें ताना पूरे रहते हैं, तंतुओं की एक रचना रहती है, इस तरह से अमृत आकाश में भी पूरब से पश्चिम, ऊपर से नीचे, उनमें से आकाश प्रदेश की एक पंक्ति होती है। तो शुद्ध जीव और शुद्ध पुद्गल उन पंक्तियों के अनुसार गमन करता है, जो अणु एक समय में 14 राजू गमन करता है वह सीधे आकाश प्रदेशों में ही गमन करता है वह धर्मद्रव्य है। कुछ आजकल के वैज्ञानिक लोग भी ऐसी तरंग मानते हैं जिनके आधार पर गमन होता है, शब्द कहते हैं, तो यह ज्ञानी जीव धर्मद्रव्य के बारे में विचार कर लेता है तिस पर भी जिनेन्द्रदेव की आज्ञा की वह प्रधानता वह चित्त में बसाये है। जिनेन्द्रदेव की ऐसी आज्ञा है, उनका यह उपदेश है। ऐसे ही धर्मद्रव्य के बारे में आकाश द्रव्य के बारे में जानिये।

यह आकाशद्रव्य सर्वव्यापक है, लोक में भी है अलोक में भी है। जहाँ तक समस्त द्रव्य पाये जाते वह लोक है, उससे बाहर में आकाश अलग है, युक्ति से भी समझ रहा है कि हाँ आकाश ऐसा सर्वव्यापी होना चाहिए कि जिसका कहीं अन्त न हो। उसके आगे कोई पिण्डरूप चीज है, पोल नहीं रहता है, तो पिण्डरूप जहाँ ठहरे हों उसके मायने आकाश। तो यह आकाश तत्त्व की 7 युक्तियों में विचारता है तिस पर भी आज्ञाविचय धर्मध्यानी सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान की आज्ञा की प्रधानता का चिन्तन कर रहा है।³ कालद्रव्य हैं। कालद्रव्य लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु के रूप में है। अब देखिये कैसी प्राकृतिक बात है कि जहाँ वह कालद्रव्य है वहाँ जो पदार्थ हों उनके परिणमन का कारणभूत वह काल है इसलिए कालद्रव्य असंख्यात हुए। जिस प्रदेश पर जो पदार्थ ठहरा हुआ हो उसके परिणमन का हेतुभूत वह काल द्रव्य है। काल एक सनातन द्रव्य है, उसकी पर्याय समय और समय मिलकर सेकेण्ड मिनट आदि होते हैं, वह भी युक्ति में आता है। इस प्रकार समस्त द्रव्यों का स्वरूप जानकर भी यह सम्यग्ज्ञानी पुरुष सर्वज्ञदेव की आज्ञा की प्रधानता का बराबर चिन्तन बनाये है कि भगवान जिनेन्द्र का ऐसा उपदेश है, वह प्रमाणभूत है। इसलिए भगवान की आज्ञा की प्रधानता से तत्त्व के स्वरूप का चिन्तन करना सो आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

श्लोक-1605

अनन्तगुणपर्यायसंयुतं तत् त्रयात्मकम्।

त्रिकालविषयं साक्षिज्ञानासिद्धमामनेत्॥1605॥

मोक्ष के कारणभूत दो प्रकार के ध्यान हैं—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। उनमें से धर्मध्यान के चार भेदों का वर्णन चल रहा है। प्रथम धर्मध्यान का नाम है आज्ञाविचय धर्मध्यान। भगवान की आज्ञा को मुख्य करके जो ध्यान बनाया जाता है उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। इस ध्यान में तत्त्वों का भी विचार है, पर विचार करके भी भगवान की आज्ञा की प्रधानता उसके रहती है। तत्त्व अनन्त गुण पर्याय युक्त है। पदार्थजितने भी है सब अनन्तगुणात्मक हैं अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में अनन्त शक्तियाँ हैं, हैं सर्व अभेद स्वभावरूप, पर जब भेद करके जाना जाता तो अनेक हैं। जैसे एक आत्मा, उसका स्वभाव हे एक चैतन्य, अथवा जो है सो है। अब उस आत्मा के स्वभाव को जब हम भिन्न-भिन्न कार्यों के रूप में देखते हैं तो हमें उसमें अनन्त गुण नजर आते हैं। जैसे आत्मा जानता है तो एक ज्ञानगुण है। आत्मा सामान्य प्रतिभास करता है तो एक दर्शन गुण है, आत्मा आनन्द भी भोगता है तो एक आनन्द गुण है, इस प्रकार जितने भी काम समझ में आयें उतने इसमें गुण होते हैं। आत्मा सूक्ष्म रहता है तो सूक्ष्म गुण भी है, इस तरह अनन्त गुणों से युक्त आत्मा है। ऐसे ही पुद्गल में वास्तविक पुद्गल अणु है—उसमें रूप है तो रूप गुण हो गया, रस है तो रस गुण हो गया, यों जितनी शक्तियाँ हैं वे सब गुण हो गये। तो यों पदार्थ अनन्त गुण करके सहित हैं, और जितने गुण हे उतनी ही उसकी पर्यायें हैं। कोई भी गुण पर्याय सहित नहीं हो सकता। गुण है तो कोई न कोई अवस्था है। जैसे कि ज्ञानशक्ति है तो वह ज्ञान किसी न किसी अवस्था को लिए हुए होगा। मतिज्ञान हो, श्रुतज्ञान हो, कोई भी हो अवस्था उसकी जरूर होगी। इस प्रकार जितने भी गुण हैं उतनी ही उसमें पर्यायें हैं। अनन्त गुण हो तो अनन्त पर्यायें हुई। उसका पिण्डरूप जो तत्त्व है उसे द्रव्य कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में बताया है कि जो गुण पर्याय वाला हो सो द्रव्य है। द्रव्य में यह खासियत है ही। इस काल द्रव्य भी ले लो। लोकाकाश के एक प्रदेश पर ठहरा है, उसे असंख्यात काल हैं। तो कालद्रव्य भी अपने अनन्त गुणों से युक्त है और अनन्त पर्यायों से युक्त है। प्रत्येक पदार्थ अनन्तगुणपर्याय युक्त है, इसलिए उसे यथात्मक बोलते हैं। कोई पदार्थ ऐसा नहीं कि जो बनता तो हो और बिगड़ता न हो या बना न रहता हो। बिगड़ता तो हो, पर न बनता हो ऐसा कोई नहीं है। कोई पदार्थ बना तो रहता हो पर न बनता हो, न बिगड़ता हो ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है। तो पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। कुछ एकान्ती लोग एक निर्विकार को ब्रह्म मानते हैं। तो जिसमें कोई अवस्था नहीं होती हे ऐसा ब्रह्म क्या स्वरूप रखता होगा? वह कथन मात्र है अथवा यों समझिये जैसे द्रव्यदृष्टि में जैन सिद्धान्त में पर्याय को निरखकर केवल स्वभाव देखकर आत्मा चैतन्यप्रकाशमात्र कहा है, ऐसा ही उनका एक ब्रह्मा हे, पर यह द्रव्यदृष्टि एकान्त हो जाय तो उनका ब्रह्म है। अपने यहाँ एकान्त तो है नहीं। द्रव्यदृष्टि से आत्मा एक चैतन्यस्वभावमात्र है। द्रव्यदृष्टि में विकार नहीं है, द्रव्यदृष्टि में अवस्था नहीं है, द्रव्यदृष्टि में परिणमन नहीं है। जैसे दो भीट हैं, हम आगे की भीट देख रहे हैं तो पीछे की भीट हमारी नजर में नहीं है, तो हमारी नजर में नहीं है तो इसके मायने यह नहीं कि भीट है ही नहीं। द्रव्यदृष्टि में पर्याय नजर नहीं आती पर इसके मायने यह नहीं है कि पर्याय हे ही नहीं। पर्यायदृष्टि में गुण नहीं नजर आते तो इसके

मायने यह नहीं है कि वह सनातन तत्त्व नहीं है। हाँ द्रव्यदृष्टि का विषय है कि पदार्थ के स्वभाव को जाने। दोनों को स्याद्वाद से लें तो गुण और पर्याय दोनों को जानें सो प्रमाण है। यों उत्पादव्ययधौव्यात्मक है और तीन काल में रहता है। पदार्थ पहिले भी था, आज भी है, आगे भी रहेगा। जो कुछ है नहीं, असत् है वह कभी सत् नहीं बन सकता। जो सत् है, अपना अस्तित्व रखता है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। तो सत् कभी नष्ट होता नहीं, असत् बनता नहीं तो ये जो सब कुछ बनते दिखते हैं ये सब परिणमन हैं। इससे सिद्ध है कि पदार्थ सनातन है और प्रति समय परिणमता रहता है। ऐसा सब कुछ तत्त्व को जानता हुआ भी यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष बीच-बीच में अपनी आज्ञाविचयता की पुट लगाता जाता है कि ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जिनेन्द्रदेव की ऐसी आज्ञा है कि पदार्थ द्रव्यगुणपर्यायात्मक है, पदार्थ उत्पाद व्ययधौव्यात्मक है, त्रिकालवर्ती है, इसलिए यह सब चिन्तन आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है।

श्लोक-1606

सूक्ष्मं जिनेन्द्रवचनं हेतुभिर्यन्न हन्यते।

आज्ञासिद्धं च तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः॥1606॥

आज्ञाविचय धर्मध्यानी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के चिन्तन में यह तत्त्व समाया है कि जिनेन्द्र भगवानका वचन सूक्ष्म है जो हेतुओं के द्वारा खण्डित नहीं होता। अब आप देखें कि केसी-केसी कर्म रचनाएँ बतायी हैं कि जीव किसी समय तीव्र अज्ञानमय मोह विभाव परिणाम करता है तो 70 कोड़ाकोड़ी तक की स्थिति का कर्मबन्धन हो सकता है। एक समय में जितनी स्थिति बंधी है मानो स्थिति सागरों पर्यन्त होती है तो इसके प्रत्येक समय में इस समय इतने परमाणु उदय में आयेंगे, इस समय में इतने उदय में आयेंगे, यह बंटवारा भी हो जाता है। तो बन्ध के समय में वे स्थितियाँ पड़ गयी, निषेक बंध गए हैं। यह बंध के समय का काम हुआ। यह सुनकर घबड़ायें नहीं, कहो भावी काल में इसके परिणाम विशुद्ध हुए तो स्थिति तो उनमें पड़ी ही थी पर उनका अपकर्षण संक्रमण और आगे के निषेकों का पहिले की स्थिति में रह जाना और वहाँ के निषेकों का खिर जाना—यह बातें सम्भवहैं इसलिए उनकी निर्जराहो जाती है। कोई खोटे परिणाम से बड़ी लम्बी स्थिति बाँध ले तो ऐसी स्थिति भोगनी पड़ेगी ऐसा नहीं है। कभी शुद्ध परिणाम हो तो वह स्थिति खिर जायगी, भीतर में मिल जायगी। जिसे एक नक्शे से यों समझिये कि एक फिट भर समय की रचना बनायी तो पहिली लाइन पर जीव स्थित है, उसने कर्म बांधे तो वे पुद्गल स्कंध एक फिट तक की समस्त लाइनों में बँट गए, ये समय हुए। अब करणानुयोग की दृष्टि से यह वर्णन चलेगा। तो आगे चलकर किसी भी समय

जीव अगर परिणाम उज्ज्वल बनाता है, अधःकरण अपूर्वकरण आदिक परिणाम बनता है तो उन परिणामों के काल में ये कर्मबंधन ध्वस्त हो जाते हैं। यहाँ पर एक शंका हो सकती है कि जब जीव ने कर्म बांधा और उनका उदयकाल आयगा तो उस समय भी कर्म बंधेगे, फिर खोटे परिणाम होंगे ता फिर कर्मबंधेगे। यों छूटना किस तरह होगा? तो सुनिये यह सूक्ष्म कथन है। जिस समय में बंधे हुए कर्म उदय में आते हैं उस समय तो टाला नहीं जा सकता। उस समय उसके अनुकूल परिणाम बनेंगे, पर उदयावली में कर्म आ जायें अथवा इससे भी पहिले उन्हें तो टाला जा सकता है, हाँ उदयक्षण में कर्म आयें तो उन्हें नहीं टाला जा सकता। बहुत पहिले विशुद्ध परिणाम कोई करे तो बहुत आगे के कर्म घट जायें, स्थिति दूर हो जाय, प्रकृतियाँ कम हो जायें, अनुभाग कम हो जाय, यह तो बहुत सम्भव है, पर समय पर विशुद्ध परिणाम हो और कर्म काट दिए जायें यह बात केवल उदयावली तक सम्भव हैपर उदय के क्षण में सम्भव नहीं है। उदय के होने की एक परम्परा होती है और निरन्तर उस-उस जाति की पर्यायों का उदय चलकर उपयोग में आये ऐसा बनने के लिए एक आवली तक में परम्परा चलती है, उसे कहते हैं उदयावली। उस उदयावली के मान लो एक हजार समय है, उस एक हजार समय में भिन्न-भिन्न समय में जुदी-जुदी कर्मवर्गणायें खिरेगी और दृष्टान्त में मानो 1000 समय तक उस-उस जाति के कर्मों का निरन्तर उदय चलता है इसलिए उसे उदयावली कहते हैं, पर उन एक हजार समयों के भीतर उसे मान लो 500 न. के समय पर जो प्रकृति उदय में आये, कामार्णवर्गणायें उदय में आयी हैं वह हे उदयक्षण और उसके सिलसिले में आना तो था 500 समय और उदय में, पर 500 समय में भी पहिले वह उदयावली आ गयी तो उदयावली में आये हुए कर्म भी संक्रमण को प्राप्त हो सकते हैं उसे कहते हैं स्तिबुक संक्रमण, अर्थात् उनमें जो उदय का क्षण है उससे एक समय पहिले वह प्रकृति बदले, याने जो उदयक्षण में प्रकृति चल रही है उस रूप परिणाम जाय और उदय में आये, उसे कहते हैं स्तिबुक संक्रमण। यों स्तिबुक संक्रमण से भी कर्म झड़ जाते हैं और स्तिबुक संक्रमण न होकर सीधा अपकर्षण और निर्जरण है, उस प्रकार भी कर्म झड़ जाते हैं। स्तिबुक संक्रमण से जो कर्म खिरते हैं उसका महत्त्व भी है और नहीं भी है दोनों बातें हैं। जैसे इस समय मनुष्यों के चारों गतियों के भी उदय चल सकते हैं पर फल में, केवल मनुष्यगति है, जन्मजन्मान्तरों में तिर्यञ्च गति भी बाँधी होगी, अन्य गति बाँधी होगी तो नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सभी गतियों का उदय आ सकता है, पर होगा क्या कि जिस क्षण वह उदय आने को होगा नरक आदिक गति, जो उदयक्षण से एक समय पहिले मनुष्यगति के रूप में बनकर उदय में आयगा, इसका नाम स्तिबुक संक्रमण है। अब इसमें कोई महत्त्व नहीं रहा। जीवों में प्रकृत्या यह धारा बनती है कि अनेक कर्मों का उदय आ रहा है, पर भोगने में भव के अनुकूल ही होगा तो उस समय बन-बनकर, परिणाम करके खिरेगा।

प्रकरण यह चल रहा है कि जिनेन्द्र का वचन अति सूक्ष्म है, इन्द्रिय के अगोचर है। तो जिनेन्द्र का वचन जब हम इतना सूक्ष्म देखते हैं और एक आचार्य के वचन का दूसरे आचार्य के वचन में विरोध नहीं पाते

हैं, एक परम्परा चल रही है तो इससे सर्वज्ञता की सिद्धि अवश्य होती है। तो आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष यह चिन्तन कर रहा है कि जिनेन्द्र का वचन इतना सूक्ष्म है जो इन्द्रिय से स्पष्ट नहीं हो सकता है। ज्ञानी पुरुष चिन्तन से, युक्ति से, अनुभव से भी जानकर आप्त भगवान की भक्ति इतनी तीव्र है कि सब तरह से निर्णीत तत्त्व को जानकर भी भगवान जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है ऐसा प्रमाण रूप में अपने आपमें जाहिर कर रहा है, यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। जिनेन्द्र भगवान के वचनों में जो सूक्ष्म कथन बताया गया है, जिसमें कर्मों की अपकर्षण स्थिति भागहार आदि बताये हैं उसमें कुछ युक्ति प्रयोग भी है। कर्मों का उत्कर्षण होने के लिए संक्लेश परिणाम चाहिए, विशुद्ध परिणाम न चाहिए, शुभायु को छोड़कर अन्य की स्थिति बढ़ने के लिए विशुद्ध परिणाम न चाहिए, किन्तु आत्मा के गिरे हुए परिणाम चाहिए। तो जो आत्मा के गिरे हुए परिणाम हों उस काल में उस परिणाम के अनुकूल कर्मों की स्थिति बढ़ जाती है। जैसे आयु कर्म की स्थिति अपकर्ष काल में ही घटती बढ़ती है। आयुकर्म का बंध कर्मभूमि के मनुष्य में तो सम्पूर्ण आयु के तीन भाग कीजिए। दो भाग व्यतीत होने के पश्चात् तृतीय भाग में आयु बंध होता है। उस दूसरे भाग में भी आयु का बंध न हो तो उसके भी तीन भाग करें। इस तरह 8 बार अपकर्ष काल आता है। किसी को आयुकर्म का बंध पहिले आकर्षण में मिला हो तो जब उसका द्वितीय तृतीय अपकर्ष काल आ जाय तो सम्भव है कि उस समय आयु कर्म की स्थिति घट भी जाय और बढ़ भी जाय, सो यह आयुकर्म की स्थिति का घटना बढ़ना बध्यमान में है, भुज्जमान में नहीं है। आयुकर्म की स्थिति तो अपकर्ष काल में ही परिवर्तित होती है और अन्य कर्म का संक्लेश आदि परिणाम होने पर परिणामों के अनुकूल जो कर्म बंध सकते हैं केवल उन की कर्मों की स्थिति घट बढ़ सकती है। ऐसा नहीं हो सकता है कि साता वेदनीय बंध रहा हो और असाता की स्थिति बढ़ जाय, साता वेदनीय के काल में पूर्व बद्ध सातावेदनीय की स्थिति बढ़ सकती है। देखिये जैनशासन में आप्त देव ने कैसी-कैसी एक-एक समय की बात बतायी, कैसा-कैसा उत्कर्षण होता, कैसा अपकर्षण होता, कैसी स्थापना होती, आगे के कर्म कैसे पहिले निषेक में आ सकते, यह समस्त कथन अत्यन्त सूक्ष्म है और जो हेतुवों के द्वारा खण्डित नहीं हो सकती तो आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष विचार कर रहा है कि यह सब कथन जिनेन्द्रदेव की आज्ञा है, जो कि पूर्ण सत्य है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

श्लोक-1607

प्रमाणनयनिक्षेपौनिर्णीतं तत्त्वमञ्जसा।

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं चिदचिल्लक्षणं स्मरेत्॥1607॥

आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष भगवान की आज्ञा की मुख्यता करता है, पर केवल भगवान ने कहा है इससे ठीक मानता हो ऐसा नहीं है, अपनी बुद्धि का कुछ भी बल न लगता हो यह बात नहीं है। बुद्धि बल का पूर्ण उपयोग है, तिस पर भी भगवान की परम्परा को प्रधान लेकर कथन करता है और अपने धर्म का विचार बनाता है। तो विश्वास में यद्यपि परीक्षा की प्रधानता है, पर परीक्षा कर-करके भी जब उसकी दृष्टि में तत्त्व सही उतरता है तो एकदम जिनेन्द्रदेव की भक्ति उमड़ती है कि धन्य हैं जिनेन्द्र प्रभु के वचन, कितने सत्य प्रभु के वचन निकलते हैं, अनुभवसिद्ध और युक्ति सिद्धि बात को जानकर भगवान के गुणस्मरण में आज्ञाविचय धर्मध्यानों की तीव्रता होती है कि भगवानके वचन कितने सत्य हैं जो युक्तियों से बिल्कुल ठीक उतरे। इसके अलावा और भी देखिये जो कथन हमारी युक्ति और अनुभव में उतरते हैं—वह बात जब हम पूर्ण सत्य पाते हैं तो जिनभगवान ने और भी जो वचन कहे जो युक्ति में नहीं भी उतरे हैं तो उन वचनों को भी सत्य मानता है। 7 तत्त्वों का प्रतिपादन युक्ति और अनुभव से भी जानाजाता है। आस्रव परिणाम किया है उस समय कर्मों की क्या स्थिति हो सकती है, सम्वर परिणाम क्या है और सम्वर परिणाम के समय कर्मों में क्या खलबली हो सकती है? ये सब बातें हम युक्ति से भी और अनुभव से भी जान सकते हैं और हम युक्ति अनुभव से जानकर आज्ञा से भी जान सकते हैं, उसके अलावा जैसे स्वर्गों की रचना—इतने स्वर्गों में पटल है, इतने श्रेणीबद्ध विमान हैं आदिक कथन है युक्ति और अनुभव से आगे निकला लेकिन जिन सर्वज्ञदेव ने वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन यथार्थ किया है जिसे हम युक्ति और अनुभव से जानते हैं, उनके समस्त वचन हैं इस विषय में उसकी श्रद्धा जम जाती है। तो परोक्षज्ञान तत्त्व में आज्ञा प्रधान रहा और अनुभव योग्य तत्त्व में परीक्षा प्रधान रहा। परीक्षा प्रमाण के लिए जब-जब परीक्षा में आवें तो उस-उस समय इस तरह यह आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष परीक्षा तत्त्व में भी आज्ञा की प्रधानता करता है, और जो परीक्ष्य नहीं है किन्तु सर्वज्ञदेव द्वारा निर्णीत है उस तत्त्व में भी विश्वास करता है। यों आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष सर्वज्ञ की आज्ञा की मुख्यता से सर्वज्ञ के स्वरूप का चिन्तन करता है। तो ये सूक्ष्म तत्त्व हुए परमाणु आदिक, आन्तरिक तत्त्व हुए जो भूतकाल में हुए और दूरवर्ती तत्त्व हुए मेरु आदिक जो बहुत दूर हैं। ये इन्द्रिय के विषयभूत नहीं हैं लेकिन ये किसी न किसी के द्वारा प्रत्यक्षभूत अवश्य हैं, क्योंकि किसी न किसी के अनुमान में आते हैं। जैसे पर्वत में धूम देखकर हम अग्नि का अनुमान करते हैं तो हम तब अनुमान केवल कर पाते हैं, पर पर्वत के निकट जो बैठे हैं वे तो साक्षात् देख सकते हैं, इन सब बातों में आज्ञा की प्रधानता होती है और भगवान की आज्ञा में जो-जो वचन कहे गए हैं और हमारे परोक्षभूत हैं, वे सत्य हैं ऐसा निर्णय करने का प्रमाण हमारे पास यह ही है कि वस्तुस्वरूप जो कि हमारे तत्त्व में, अनुभव में, युक्ति में उतर सकता है वह जब हममें यथार्थ उतरा तो उनका कथन जो भी हैवह सब प्रमाणभूत है, इस तरह परीक्ष्य तत्त्व के माध्यम से परोक्षभूत को भी तत्त्व माना है, यही आज्ञाविचय धर्मध्यान में है।

तत्त्व का निर्णय प्रमाण नय निक्षेप इन तीन से होता है। प्रमाण में द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, निश्चयव्यवहार ऐसी दृष्टियों का स्वभाव निर्णय करना उसे तो प्रमाण कहते हैं और प्रमाण से ग्रहण किए हुए पदार्थ में एक अंश को मुख्य बना करके उसका मुख्य निर्णय करना सो नय है। प्रमाण और नय से जिसका निर्णय किया जा चुका है ऐसे तत्त्व निक्षेप से व्यवहार करना यह भी निर्णय में शामिल है, जिस नामनिक्षेप से हम पदार्थ को जानते रहते हैं। नाम से पहिले पदार्थ का प्रतिपादन या उसका व्यवहार शुरू नहीं हो सकता। नाम किसी का धरा जाय तब तो उससे व्यवहार चला, इसलिए सबसे पहिले निक्षेपों में नामनिक्षेप कहा है। नाम बिना क्या व्यवहार करना, नाम बिना कुछ व्यवहार नहीं हो सकता इसलिए नामनिक्षेप सबसे प्रथम है। प्रमाण नय, निक्षेप से निर्णय किए हुए तत्त्व में यह स्मरण तो करता है आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष, मगर उसका इस ही और बराबर ख्याल बना रहता है कि कितना सत्य भगवान जिनेन्द्रदेव के वचनहै? उस आज्ञाविचय धर्मध्यानी के भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा की प्रधानता है। युक्ति से और अनुभव से सब तरह से निर्णय करके भी वह आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष इस प्रतीति को नहीं छोड़ता कि भगवान जिनेन्द्रदेव के वचन बिल्कुल सत्य हैं। जब उत्पाद व्यय धौव्य की बात प्रत्येक पदार्थ में निरखता है तो उसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्याय बनाता है, पूर्व पर्याय उसमें लीन हो जाती है और नवीन पर्याय उत्पन्न होकर पूर्वपर्याय होकर भी वह सनातन तत्त्व बना रहता है—यह बात उसे हर चीज में नजर आती है, कंकड़, पत्थर, जीव देहादिक में, क्योंकि यह बिल्कुल स्पष्ट बात है। घड़ा उत्पन्न हुआ तो मिट्टी का लौंदा विलीन हो गया और मिट्टी उन सब अवस्थाओं में बनी रही। तो यह स्थिति उत्पाद व्यय की बराबर स्पष्ट नजर आती है। पर स्पष्ट नजर आकर भी भगवान की आज्ञा का सम्बंध बन्धा होता है। कितना स्पष्ट और प्रमाण से निर्णीत तत्त्व है जो भगवान सर्वज्ञ ने बताया है, यों आज्ञाविचय धर्मध्यान की बात कही जा रही है। आज्ञा को मुख्य करके चिन्तन करना वह सब आज्ञाविचय धर्मध्यान है। फिर यह भी देख रहा है कि चेतन अचेतन में जितना तत्त्व का निर्णय जिनेन्द्रदेव ने किया है वह बिल्कुल यथार्थ है। अचेतन में भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल जो द्रव्य जाति का निर्णय बताया है वह भी युक्ति में उतरती हुई बात है। ऐसा चेतन अचेतन लक्षण वाले पदार्थ स्पष्ट हो रहे हैं और उनको स्पष्ट जानकर भगवान की आज्ञा में प्रधानता रखता है—धन्य हैं वे जिनेन्द्र प्रभु आज्ञा के शब्द एकदम सत्य निकलते हैं, जो सत्य है वही ही प्रभु का उपदेश है।

श्लोक-1608

श्रीमत्सर्वज्ञदेवोक्तं श्रुतुज्ञानं च निर्मलम्।

शब्दार्थनिचितं चित्रमत्र चिन्त्यमविप्लुतम्॥1608॥

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष आज्ञाविचय धर्मध्यान में ऐसा चिन्तन करता है कि सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया निर्मल और शब्द अर्थ से परिपूर्ण नाना प्रकार का विधिश्रुत है। श्रुतज्ञान अंग पूर्ण रूप में जो आया है वह मूल में तो भगवान की दिव्यध्वनि से निकला है, उस दिव्यध्वनि को सुनकर गणधर देवों ने उसका प्रतिपादन किया, फिर मुनिजनों ने, आचार्यजनों ने उसे सुनकर उसका प्रतिपादन किया। तो यह श्रुतज्ञान सर्वकल्याणभूत है, ऐसा ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है। अब श्रुतज्ञान क्या है? उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक-1609

परिस्फुरति यत्रैतद् विश्वविद्याकदम्बकम्।

द्रव्यभावभिदा तद्धि शब्दार्थज्योतिरग्निमम्॥1609॥

श्रुतज्ञान दो प्रकार का है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। द्रव्यश्रुत अंगपूर्व रूप जो रचना है वह है। शास्त्र हैं, अक्षर हैं ये भी द्रव्यश्रुत हैं, और इनका अध्ययन करके अथवा सुन करके जो ज्ञान बनता है वह भावश्रुत है अथवा अन्तरङ्ग का जो ज्ञान है वह है भावश्रुत और जो शब्दों की रचना है वह है द्रव्यश्रुत। तो दो प्रकार का श्रुतज्ञान होता है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। द्रव्यश्रुत में और भावश्रुत में शब्दों का प्रकाश है, शब्द और अर्थ का प्रकाश है श्रुतज्ञान और समस्त प्रकार की विद्याओं का समूह है। जितनी विद्याएँ हैं, जितने ज्ञान हैं सब श्रुतज्ञान हैं। जितने एकान्त मत हो गए हैं, जितने धर्म प्रचलित हो गए हैं उन सबकी पूरी-पूरी बात श्रुतज्ञान में मिलेगी, पर मिलेगी दो ढंगों से। इस श्रुतज्ञान में पाप का, प्रमेय का, धर्म का, अधर्म का सभी का वर्णन है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो श्रुतज्ञान में न आया हो। इसलिए श्रुतज्ञान और केवलज्ञान को आचार्य बराबर का बताते हैं। किसी दृष्टि से श्रुतज्ञान भी संकेतरूप में समस्त विश्व को जान जाता है। जहाँ यह जान लिया कि समस्त विश्व उत्पादव्ययधौव्यात्मक है, एक-एक द्रव्य जाने वह बात अलग है मगर चिन्ह रूप में सारा विश्व जान लिया गया है। द्रव्यश्रुत में शब्द हैं और भावश्रुत में ज्ञान है। जो ज्ञान बना वह भावश्रुत है। जो द्रव्य हैं शब्द और शास्त्रादि वे द्रव्यश्रुत हैं। अक्षरों को कागज में लिख दिया तो वह भी द्रव्यश्रुत है। इस प्रकार द्रव्य का समस्त वर्णन, भावश्रुत का समस्त वर्णन जो मिला है वह सर्वज्ञदेव की ध्वनि से निकला है। तो सर्वज्ञदेव की ऐसी आज्ञा है ऐसा चार अनुयोगों में माना है। यद्यपि यह ज्ञानी युक्ति और अनुभव से विचारता है पर मानता वह यह है कि यह भी सर्वज्ञदेव की आज्ञा है।

श्लोक-1610

अपारमतिगम्भीरं पुण्यतीर्थं पुरातनम्।

पूर्वापरविरोधादिकलङ्कपरिवर्जितम्॥1610॥

यह श्रुतज्ञान कैसा है जिसका चिन्तन भगवान की आज्ञा की प्रमुखता से यह ज्ञानी पुरुष कर रहा है। यह श्रुतज्ञान अपार है। जब सारी विद्याएँ इस श्रुतज्ञान में हैं तो इसका पार कौन पा सकता है? व्याकरण, वेद, ज्योतिष आदिक समस्त विद्याएँ इस श्रुतज्ञान में गर्भित हैं। किसी भी विद्या का पारगामी पुरुष यहाँ कोई नहीं है। तो जब एक-एक विद्या अपार है तो जहाँ असंख्याते विद्याएँ भरी हुई हैं ऐसा श्रुतज्ञान अपार है, क्योंकि जिसके शब्दों का पार अल्पज्ञानी पा ही नहीं सकता है। श्रुतज्ञान से जो कुछ जाना उसे सही रूप में बताने के लिए कोई नाम नहीं है। अभी आत्मा का भी कोई नाम नहीं है। आत्मा में जो स्वरूप बसा है, जो स्वभाव है, गुण पर्याय है, जो कुछ है उसे आप किसी शब्द से कह नहीं सकते। ज्ञान तो है, मगर शब्दों से नहीं कह सकते, क्योंकि इसके जितने नाम हैं वे सब नाम एक-एक बात बतलाते हैं। जैसे जीव कहा तो जो प्राणों से जीवे सो जीव, सारी बात नहीं आ सकती। आत्मा कहा तो जो निरन्तर जाने सो आत्मा। बहुत बात तो न कहेंगे। कोई दुःखी होता है तो पदार्थ के कुछ अंशों का नाम लेकर होता है। तो वह श्रुतज्ञान अपार है और गम्भीर है किन्तु उस श्रुतज्ञान के अर्थ की थाह कोई नहीं पा सकता। श्रुतज्ञान के शब्दों में कितना अर्थ बसा है, इसकी थाह कोई नहीं ले सकता। जब आजकल की कविताओं में कितने भी भाव भरे हुए हैं जिनको जानकर सुनने वाला हर्ष विभोर हो जाता है तब फिर श्रुतज्ञान के शब्दों का कौन पार पा सकता है? इसलिए श्रुतज्ञान गम्भीर है और यह श्रुतज्ञान पवित्र तीर्थ है। इस श्रुतज्ञान का सहारा लेकर जीव संसार से पार होता है। जो कोई भी साधु हों उन्हें केवलज्ञान पहिले हुआ मगर केवलज्ञान के पहिले श्रुतज्ञान का आलम्बन था। हर एक निर्वाण पाने वाले पुरुष को श्रुतज्ञान का सहारा रहता है, यह ऐसा पवित्र सहारा है कि जहाँ लग जाय तो संकट दूर हो जाये। यह श्रुतज्ञान पुण्य तीर्थ है। इसको श्रुतज्ञान कहते हैं क्योंकि इसमें पाप नहीं है, निर्दोष है, इस कारण से जीव को तारने वाला है। भेदविज्ञान की बात श्रुतज्ञान में आये, पुद्गल आदिक परद्रव्यों से अपने को न्यारा समझे, निर्लेप समझे ऐसी प्रेरणा इस श्रुतज्ञान ने दी। यदि श्रुतज्ञान न होता तो हम आप लोग कैसे मोक्षमार्ग में लग पाते? कौन दीपक दिखाने वाला था, इसलिए श्रुतज्ञान पुण्य तीर्थ है। इसके समान और पवित्र चीज क्या हो सकती है?

घर के लोग भी दगा दे जाते हैं, और वे परपदार्थ हैं, वे तो अपने में अपना परिणमन करेंगे। यहाँ किसी का किसी से कोई सम्बंध नहीं है। हमारा हित तो केवल यह श्रुतज्ञान कर सकता है। जिसने आत्मा

का स्वरूप सिखाया, आत्मा के स्वरूप में बसने की जिसने प्रेरणा दी श्रुतज्ञान के प्रताप से समस्त संकल्प विकल्पों से हटकर अपने आत्मा में लीन हो सकते हैं। तो इस श्रुतज्ञान की महिमा को कौन कहे? पवित्र तीर्थ हे श्रुतज्ञान और यह पुरातन है, अनादि प्रवाह से चला आ रहा है। श्रुतज्ञान किसी ने बनाया नहीं। श्रुतज्ञान किसी ने बनाया हो ऐसा नहीं है, अनादि प्रवाह से बराबर चला आया, इस भरत क्षेत्र में चौथे काल से तीर्थकर को परम्परा से आया है। इस भरत क्षेत्र में अनन्त तीर्थकर हो गए, अनेक प्रवाह से यह जैन धर्म अविच्छिन्न धारा से चला आ रहा है। थोड़ा बीच में भोगोपभोग के समय धर्म का विच्छेद हो जाता है। चौथे काल में तीर्थकर ने भी जो श्रुतज्ञान बताया है, दिव्यध्वनि में उपदेश किया है वह भी नया नहीं है किन्तु वैसा ही उपदेश पहिले के अनन्त तीर्थकरों ने किया है, क्योंकि जैसी वस्तु है उस प्रकार का उपदेश है। प्रत्येक वस्तु अपना स्वरूप रखती है, जो उसका स्वरूप है सो ही स्वरूप भूतकाल में था, सो ही अब है, सो ही आगे रहेगा। और स्वरूप का व्याख्यान है दिव्यध्वनि में इसलिए किसी भी समय के किसी तीर्थकर की दिव्यध्वनि हो, सबका एक सा प्रतिपादन है। जो विश्व को उपदेश दे यह दिव्यध्वनि का काम है, तो यह श्रुतज्ञान पुरातन है, अनादि से चला आया है। इसे किसी ने अपनी बुद्धि से बनाया नहीं है। अनन्त तीर्थकरों ने इस प्रकार का वर्णन किया है। पूर्वा पर विरोध से यह रहित है। समस्त श्रुतज्ञान में दृष्टि निराली है, पर किस दृष्टि से यह कथन है, यह प्रतिपादन न्यारा-न्यारा है, लेकिन विरोध नहीं है कि कभी कुछ कहा हो कभी कुछ कहा हो। जैसा कि अन्य जगह विरोध होता है—कहीं तो वर्णन कर दिया कि प्राणियों का घात न करना चाहिए और कहीं वर्णन कर दिया कि देवताओं के लिए प्राणियों को होम देवे तो उसमें हिंसा नहीं है। तो ऐसी बात आगमशास्त्र में नहीं है किन्तु दृष्टि नहीं लगाते इसलिए विरोध जँचता है। किसी दृष्टि से कुछ भी कहा हो वैसी ही दृष्टि लगाकर उस सबका अर्थ लगा लेना चाहिए।

समन्तभद्राचार्य ने शास्त्र के विषय में बताया है कि जो आप्त द्वारा कहा गया हो वह शास्त्र है। आप्त मायने वीतराग सर्वत्र। जो वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा गया हो वह शास्त्र है। हम कैसे निर्णय करें कि हमारा यह शास्त्र मूल में सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है। उसका हम विषय देखें, स्वरूप देखें, कहीं विरोध न आता हो, कहीं स्वरूप के विरुद्ध बात न हो तो समझना चाहिए कि यह कथन सर्वज्ञदेव की परम्परा से चला है, जो आप्त द्वारा कहा गया हो उसे शास्त्र कहा है। वही शास्त्रज्ञान है और वह अनुलंघ्य है, उसका कोई उल्लंघन, खंडन नहीं कर सकता। कोई जबरदस्ती खंडन करे तो उसकी बात और है, मगर कोई युक्तियाँ लगाकर सही ढंग से इसका खण्डन कर सके ऐसा कोई नहीं है। जैसे एक कहावत है कि एक पंचायत हो रही थी। उस पंचायत में एक सवाल आ गया कि 40 और 40 मिलकर कितने होते हैं? तो गाँव का मुखिया बोल उठा कि 40 और 40 मिलकर 60 होते हैं। सभी ने कहा—कहाँ 60 होते हैं, 80 होते हैं। तो मुखिया बोला कि अगर 40 और 40 मिलकर 60 न हों तो हमारे घर जो 4-6 भैंस हैं सो दे देंगे। यह बात उसकी स्त्री को पता पड़ गई। स्त्री चिंतित हो गयी, सोचती है कि अब तो भैंस भी चली जायेंगी, कैसे काम बनेगा?

तो मुखिया बोला—अरी बावली, जब हम यह कहेंगे कि 40 और 40 मिलकर 80 होते हैं तभी तो हमारी भैंस जावेगी। हम तो 60 ही कहेंगे, फिर कोई कैसे हमारी भैंसे ले सकेगा? तो आग्रह की बात तो अलग है, मगर कोई युक्ति लगाकर जैनशास्त्रों का खण्डन कर दे ऐसा नहीं हो सकता। तो यह श्रुतज्ञान अनुल्लंघ है और यह सबका हित करने वाला है। इसमें सर्वत्र अहिंसा का उपदेश है, इससे मनुष्यों को लाभ होता ही है, क्योंकि उसको सुनकर वे अहिंसा को पालेंगे और मोक्षमार्ग में बढेंगे। यह श्रुतज्ञान समस्त कुनयों का खण्डन करने वाला है ऐसा यह श्रुतज्ञान है जिसका चिन्तन आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष कर रहा है। वह ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि भगवान सर्वज्ञदेव ने जो वचन कहे हैं वे सब बिल्कुल सत्य हैं और वस्तुस्वरूप के अनुकूल हैं।

श्लोक-1611

नयोपनयसंपातगहनं गणिभिः स्तुतम्।

विचित्रमपि चित्रार्थसंकीर्णं विश्वलोचनम्॥1611॥

यह श्रुतज्ञान द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय, सद्भूतनय, असद्भूतनय, अनेक नय-उपनयों के समूह से गहन है। श्रुतज्ञान का कोई पार नहीं पा सकता। जैसे घने जंगल का पार हर व्यक्ति नहीं पा सकता है ऐसे ही इस श्रुतज्ञान का पार भी हर व्यक्ति नहीं पा सकता है। विवाद किस बात का है? जब सभी मतों का यह जैनशासन समन्वय कर सकता है कि इनका मत इस दृष्टि से ठीक है, इसका मत इस दृष्टि से ठीक है, तो क्या परस्पर में होने वाले विवादों का समन्वय नहीं कर सकता? नयों की दृष्टि लगाकर सबका समन्वय कर सकता है। तो यह श्रुतज्ञान अनेक नय के समूहों से गहन है। इसका पार अल्पज्ञानी पुरुष नहीं कर सकता। जिसने समस्त शास्त्रों का परिज्ञान किया है, जिसने गुरुवों की सेवा करके विद्या शिक्षा पायी है, जिसने अनेक युक्तियों से तत्त्व को कसा है, साथ ही अनुभव प्राप्त किया है ऐसा ज्ञानी पुरुष ही श्रुतज्ञान का पार पा सकता है, पर जो अल्पज्ञानी हैं वे श्रुतज्ञान को पार नहीं पा सकते। यह बड़ा गहन है क्योंकि इसमें सब नयों की बात है। गहन है इसलिए अनेक विद्वान धर्म के नाम पर विवाद करते रहते हैं, अगर सद्बुद्धि हो तो सबकी बात सुलझ जाये। दृष्टि में सब कथन सही हो जायगा और विवाद का काम न रहेगा। तो श्रुतज्ञान अनेक नयों के समूह से गहन है। इस श्रुतज्ञान का कौन स्तवन कर सकता है? गणधर आदिक देव ही इसका स्तवन कर सकते हैं। गणधर देव द्वादशांग के पाठी हैं। जो 11 अंग 9 पूर्व के जानकार होते हैं, तो वे श्रुतज्ञान की महिमा जान सकते हैं। जो अल्पज्ञानी पुरुष हैं वे अपने ज्ञान को बहुत बड़ा मानते हैं, पर वे अल्पज्ञानी पुरुष

जब ज्ञान की आराधना करते हैं तो जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे वे जानते हैं कि यह ज्ञान तो बहुत गम्भीर है, इसका कौन पार पा सकता है? तो ऐसे श्रुतज्ञान को जिसमें समस्त विद्याएँ गर्भित हैं उस श्रुतज्ञान का विषय किसी के कहने में नहीं आ सकता। गणधर देव ही उसकी महिमा को समझ सकते हैं। यह श्रुतज्ञान विचित्र है, अपूर्व है, नाना प्रकार की विद्यायें इसमें पड़ी हुई हैं, इसके शब्दों में नाना अर्थ बसे हुए हैं। कोई मूल बात होती है पर उसमें रहस्य बहुत बसे होते हैं। तो नाना प्रकार के अर्थों से भरा हुआ यह श्रुतज्ञान है। यहाँ श्रुतज्ञान में लोग इसी कारण विवाद करते हैं कि कोई कुछ अर्थ निकालता, कोई कुछ। लेकिन जितने भी अर्थ निकल सकते हैं उन सब नयों की दृष्टि से ठीक बैठाया जा सकता है, पर नयों का परिज्ञान नहीं है इसलिए शास्त्र में आज अनेक विवाद खड़े होते हैं। नयों का परिज्ञान कर सकता है यह पुरुष मगर परिज्ञान करके भी पक्ष की हठ हो जाती है। जैसे आज के विवादों में निश्चय और व्यवहार के पक्ष चल रहे हैं, उन पक्षों में भी उन पक्षों के करने वाले विद्वानों में अनेक विद्वान ऐसे हैं जो निश्चय का विरोध कर रहे हैं, उनकी श्रद्धा निश्चय पर है, पर जरा एक पार्टी में नाम निकल गया है तो उस पार्टी का पक्ष करना पड़ता है। हृदय गवाही नहीं देता है मगर उस पार्टी में नाम आ जाने की वजह से उसका पक्ष करना पड़ता है। निश्चय का समर्थन करने वालों में भी कुछ ऐसे विद्वान हैं जिनके चित्त में व्यवहार की बात है लेकिन नाम निकल गया है कि यह निश्चयवादी हैं, निश्चय का कथन करते हैं तो पार्टी का पक्ष रखने के लिए भी पार्टी की जैसी बात करते हैं। तो कोई भी पुरुष अगर निष्पक्ष न्याय दृष्टि से नयों की दृष्टि लगाकर उसका विवेचन करे तो समस्या सुलझ सकती है।

यह श्रुतज्ञान नाना नयों से भरा हुआ है और एक-एक शब्द के नाना अर्थ है, और रहस्य से भरे पड़े हैं इसलिए यह श्रुतज्ञान विचित्र है, नाना अर्थोंसे परिपूर्ण है और यह श्रुतज्ञान विश्व का नेत्र है। सारे विश्व का स्वरूप इस श्रुतज्ञान के द्वारा जाना जाता है। अब देखिये एक-एक भाषा और एक-एक विषय कितना-कितना बड़ा है, उनका कितना-कितना विस्तार है, वह सब श्रुतज्ञान का एक अंश है। वह जरा सा अंश भी विश्व का लोचन है। समस्त विश्व का ज्ञान कराने वाला यह श्रुतज्ञान है। जो नाना पुरुष हैं, जिनकी मोक्षमार्ग में लगने की चाह है, उनके लिए सारे विश्व का ज्ञान इतने में ही हो जाता है कि गुणपर्ययद्रव्य। समस्त अचेतनों से भिन्न यह चेतन आत्मा है और एक सहज ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व है, इतने परिज्ञान में सारे विश्व का ज्ञान हो गया। जिसका जितना प्रयोजन होगा उसके दायरे में हो तो ज्ञान करेगा। ज्ञानी पुरुष का प्रयोजन समस्त पदार्थों से न्यारा अपने आत्मस्वरूप में जानने का है तो उसने जो एक निगाह में यह जान लिया कि शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र तो यह मैं आत्मा हूँ और इससे ये सब परे हैं और पुद्गल जाति में धर्मद्रव्य है, अधर्मद्रव्य है, आकाशद्रव्य है, और काल जाति के द्रव्य हैं ये सब पर हैं। अब इस ज्ञानी को यह जरूरी नहीं है कि एक-एक स्कंध की बात अलग-अलग जानें। एक-एक परमाणु की बात अलग-अलग देखें, मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है, मुझे तो भेदविज्ञान से प्रयोजन था, यह भेदविज्ञान की बात उस ज्ञानी ने समझ ली है। तो

यह श्रुतज्ञान समस्त विश्व का ज्ञान कराने वाला है। इस श्रुतज्ञान की महिमा जितनी भी गायी जाय वह थोड़ी है। अगर यह श्रुतज्ञान न होता तो पदार्थ का स्वरूप कहाँ से जाना जाता? और न जाना जाता पदार्थ का स्वरूप तो उन समस्त पदार्थों से भिन्न आत्मा का बोध कहाँ से हो सकता था? और आत्मा का बोध जब तक नहीं हो सकता तब तक संसार के संकट दूर नहीं हो सकते, कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती, निर्वाण पद नहीं प्राप्त हो सकता। तो आप समझिये कि जो इतना उच्च पद है, निर्वाण मोक्ष पद, उस पद के पाने का प्रथम साधन श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञान के सहारे जीव भेदविज्ञान करते, हेय का परिहार करते, उपादेय का ग्रहण करते, ऐसे ही जीव भेदविज्ञान को करके आत्मस्वरूप में लीन होकर मोक्ष पद को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए सब कल्याण का मूल यह श्रुतज्ञान है जिसका चिन्तन आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष कर रहा है। और वह जिनेन्द्रदेव का बड़ा आभार मान रहा है कि भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए वचन यथार्थ सत्य हैं। इस प्रकार भगवान के स्वरूप का जो चिन्तन है उसका नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

श्लोक-1612

अनेकपदविन्यासैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः।

प्रसृतं यद्विभात्युच्चैः रत्नाकर इवापरः॥1612॥

ज्ञान 5 प्रकार के होते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान नाम है इन्द्रिय से और मन से प्रथम बार जो जानता है उसका और मतिज्ञान से जानकर कुछ और विशेष बात समझना इसका नाम है श्रुतज्ञान और अपने आत्मा के द्वारा पुरानी आगे की बाहर की चीजों का, पौद्गलिक पदार्थों का जानना अवधिज्ञान है। दूसरे मन की बात जान लेने को मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। जो समस्त विश्व को स्पष्ट जान जाता सो केवलज्ञान है। अब इन 5 ज्ञानों में से हम आपको कल्याण के लिए किस ज्ञान का आलम्बन लेना चाहिए। प्रकरण चल रहा है कि हम आपको श्रुतज्ञान का सहारा बहुत बड़ा सहारा है। श्रुतज्ञान में समस्त शास्त्र, समस्त विद्याएँ ऐसी कोई कला नहीं बचती जो श्रुतज्ञान में न हो। भगवानकी दिव्यध्वनि में जो बात खिरी है उसे गणधरदेव ने झेला है, द्वादशाङ्ग रूप रचना की है फिर आचार्यों ने जिसमें जैसी योग्यता हुई उन्होंने श्रुतज्ञान को धारण किया और जितने शास्त्र हैं वह श्रुतज्ञान का करोड़वां हिस्सा है। और जब ये आज के शास्त्र जब इतने बड़े विस्तार वाले ज्ञान की चीज है वह करोड़वां हिस्सा पड़ता है तो समझो कि जैन धर्म का शास्त्र कितना महान है। तो वह श्रुतज्ञान अनेक पदों का विन्यास है जिसमें ऐसे अंग और पूर्व का ज्ञान 11 अंग 14 पूर्व, इतने सब समूह का नाम श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान अक्षरों

से तो द्रव्यश्रुत कहलाता और भावश्रुत की विद्या भावश्रुत कहलाती। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जो आज्ञाविचय धर्मध्यानी है वह भगवान की आज्ञा को प्रमाण मानकर सब श्रुतज्ञान का चिन्तन करता है। आचाराङ्ग में मुनियों के आचार का वर्णन है, संक्षेप में सब सूत्रों का वर्णन है। ऐसे अनेक विषयों में बहुत-बहुत विस्तार से वर्णन है। वह श्रुतज्ञान भगवान की आज्ञा है। ज्ञानीपुरुष भगवानकी आज्ञा को बार-बार शिरोधार्य करता है। जिनेन्द्र भगवान के वचनों में ज्ञानीपुरुष को सन्देह नहीं है और युक्ति से भी, अनुभव से भी सब तत्त्वों का निर्णय तो कर लेता है, मगर उसमें यह प्रतीति बनाये रहता कि भगवान जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है इसलिए यह पूर्ण प्रकरण हो।

श्लोक-1613

मदमत्तोद्धतक्षुद्रशासनाशीविषान्तकम्।

दुरन्तघनमिथ्यात्वध्वान्तधर्मा शुमण्डलम्॥1613॥

यह श्रुतज्ञान ऐसी यथार्थ विद्यावों का निधन है यह श्रुतज्ञान के बल से जो अन्य छुद्र शासन है एकान्तवादियों का जो मत है उनको यह श्रुतज्ञान नष्ट कर देने वाला है अर्थात् स्याद्वाद के शासन से एकान्त मत का शासन सब नष्ट हो जाता है। एकान्तवाद के मायने यह है कि वस्तु को एक धर्म मानकर रह जाना। जैसे जीव नित्य भी है, अनित्य भी। जीव का कभी नाश नहीं हो सकता इस कारण तो नित्य है और जीव की अवस्था कर समय नई-नई बन रही है इस कारण जीव अनित्य है। अब उसमें से कोई मत तो एक नित्य ही है ऐसा मान लेगा। ऐसा द्रव्य है, अविकारी है, सदा रहता है, उनका सम्बंध अवस्थावों से नहीं अर्थात् एक मत तो नित्य का एकान्त मान लेगा और एक मत अनित्य का एकान्त मान लेगा। जो यह मानते हैं कि जीव कुछ है नहीं, नया-नया जीव हर समय बनता रहता है। बना और बिगड़ा, यह चीज उसमें बनी रहती है। तो ऐसा नित्य एकान्त और ऐसा एकान्त सब मतों का खण्डन करने वाला यह जैन शासन है, श्रुतज्ञान है, चाहे यह कहो कि सब मतों का इसने खण्डन किया और चाहे यह कहो कि सब मतों का इसने समर्थन किया। जैसे चार अंधे एक हाथी का स्वरूप जानने चले। हाथी था सीधा तो छू करके जानने लगे कि हाथी कैसा है? एक को पकड़ने में पैर आये तो वह सोचता है कि हाथी खम्भारूप है, एक के हाथ में सूंड पड़ी तो वह सोचता है हाथी मूसल जैसा है, एक के हाथ में कान पड़े तो वह सोचता है कि हाथी सूप जैसा है, एक के हाथ में पेट पड़ा तो वह सोचता है कि हाथी ढोल जैसा है। वे चारों के चारों परस्पर में झगड़ने लगे। जिसने जैसा हाथी का स्वरूप जाना वह वैसा हाथी का स्वरूप बताता। इतने में एक सूझता व्यक्ति आया। बोला भाई

क्यों झगड़ते हो? सभी ने अपनी-अपनी बात कही। तो वह सूझता व्यक्ति कहता है कि तुम सब ठीक कह रहे हो, पैरों की दृष्टि से हाथी खम्भा जैसा है, सूंड की दृष्टि से हाथी मूसल जैसा है, कान की दृष्टि से हाथी सूप जैसा है और पेट की दृष्टि से हाथी ढोल जैसा है। तो ऐसे ही समझ लो यह जैनशासन सभी मतों का समर्थन करने वाला भी है और सभी मतों का खण्डन करने वाला भी है। यह श्रुतज्ञान छुद्र मतों को दूर करने वाला है तो ऐसे मिथ्यात्व को दूर करना खण्डन मण्डन के समान है। जैसे सूर्य सारे अंधकार को दूर कर देता है इसी प्रकार से यह जैन शासन मिथ्यात्व अंधकार को दूर कर देता है। जैन शासन ने ही तो यह बताया है कि जीव की जाति चैतन्य की है, पुद्गल की जाति जड़ की है। जीव पुद्गल का इस समय सम्बंध बन तो रहा है, पर यह सम्बंध इसका स्वभाव नहीं है, इसका असली रूप नहीं है, भेदविज्ञान कराया है श्रुतज्ञानी ने ही तो कराया है। भेदविज्ञान से मिथ्यात्व दूर होता है। मतिज्ञान के प्रताप से मिथ्यात्व का अंधकार दूर होता है। तो हम आपको मतिज्ञान का एक बहुत बड़ा आलम्बन है। जो शास्त्रों में बात है उसका बड़ा ज्ञान हो तो उसका बहुत बड़ा सहारा है कि हम संकटों से दूर हो सकते हैं। अब देखिये भगवान हम आप सबका, हम आप सबके अन्दर है, उसे ही निरखना है, पर जब हम उसे नहीं निरख पाते, चाह है उसके निरखने की तो हम जगह-जगह डोलते हैं, यात्राएँ करते हैं, पर्वतों में डोलते हैं, अनेक कष्ट सहते हैं, सिर्फ आँखों से देख लिया कि यह जगह है, मगर पूरा तो पड़ेगा आत्मस्वरूप के दर्शन से ही। यात्रा तो पहिली सीढ़ी है। आखिरकार तो आत्मा में ही विराजमान जो आत्मा का स्वरूप है, परमात्मतत्त्व है, उसके ध्यान से ही कल्याण होगा। अपने मैं मौजूद अपने स्वरूप पर दृष्टि हो तो जगह-जगह भटकने की क्या जरूरत? यात्रा करने के बाद भी सन्तोष मिलेगा तो अपने आपके आत्मा में सन्तोष मिलेगा, बाहर से न मिलेगा। बाहर कहीं से धर्म नहीं आता, वह तो अन्तर से ही प्रकट होगा। मैं अपने असली स्वरूप को जानूँ, ये तो हमारे एक बाह्य साधन है।

बाहुबलि की मूर्ति के दर्शन करें तो दर्शन करके उनका आकार प्रकार स्पष्ट है कि सब बातें सामने आती हैं, देखो बाहुबलि ने चक्रवर्ती को जीत डाला, छह खंड की विभूति चक्रवर्ती ने पायी, उस पर विजय पायी बाहुबलि ने, उस पर विजय करके सब सम्पदा हाथ आयी, उस समय नाम भी बहुत ऊँचा बढ़ गया, तिस पर भी सब सम्पदा को त्रण के समान त्यागकर विरक्त हुए और आत्मा में आत्मा का ध्यान किया जिसके प्रताप से उन्होंने निर्वाण पद पाया। यह बात ख्याल करने के लिए यहाँ पर आये हैं पर कल्याण होगा तो आत्मस्वरूप के ज्ञान से होगा। उसको बताने वाला है श्रुतज्ञान। तो श्रुतज्ञान की बहुत बड़ी महिमा है। हम आपको सहारा श्रुतज्ञान का है। चाहिए यह कि हम अधिक से अधिक सुनकर, बांचकर, ज्ञान की आराधना करके हर प्रकार से अपना ज्ञान बढ़ायें। यही सार है, इसके अलावा जितने प्रपंच हैं वे सब घात करने वाले हैं। यह श्रुतज्ञान मिथ्यात्व को दूर करने के लिए सूर्य की किरणों के समान है।

श्लोक-1614

यत्पवित्रं जगत्पस्मिन् विशुद्धयति जगत्त्रयी।

येन तद्धि सतां सेव्यं श्रुतज्ञानं चतुर्विधम्॥1614॥

फिर कैसा है यह श्रुतज्ञान कि जगत में पवित्र है, क्योंकि श्रुतज्ञान के द्वारा तीनों जगत पवित्र होते हैं। भावश्रुत का आलम्बन लेकर नारकी जीव भी सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है और संसार के संकटों को दूर करने का अपने में आत्मानुभव करता है। इसी श्रुतज्ञान के आलम्बन से देवता लोग सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं, मध्यलोक के मनुष्य और तिर्यश्च इसी श्रुतज्ञान से सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं। यह इस श्रुतज्ञान का प्रताप है। इस कारण यह श्रुतज्ञान संत पुरुषों के सेवने योग्य माना है। श्रुतज्ञान की सेवा क्या है? शास्त्रों को अच्छी जिल्द में बांधना, बढ़ियाकपड़ों में कसकर रख देना, इतने मात्र से सेवा नहीं हुई, वह भी कर्तव्य है, रक्षा करें मगर शास्त्रों में क्या लिखा है, आचार्यों में उसमें क्या अनुभव लिखा है उसका हम जब तक अनुभव न करें तब तक हम उसका लाभ न पायेंगे। तो यह श्रुतज्ञान जो-जो इसका आलम्बन लेता है उस-उस जीव को यह पवित्र बना देता है। इस कारण सब पुरुषों को जो कल्याणार्थी हैं उन्हें इस श्रुतज्ञान की आराधना करनी चाहिए। यह श्रुतज्ञान चार प्रकार के अनुयोगों में बंटा है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिसमें बड़े-बड़े पुरुषों के चरित्र का वर्णन किया हो वह प्रथमानुयोग है। यह हम आप सबको बहुत आवश्यक है। तो हम जब बड़े पुरुषों के चरित्र सुनते हैं, बाँचते हैं तो हमें भी एक प्रेरणा मिलती है तभी तो हम उनके वैराग्य की कथा सुनते हैं, कहते हैं। वैराग्य हो तो हम आपको भी उससे प्रेरणा मिलती है। उनको सम्यक्त्व कैसे हुआ? इन कथाओं के सुनने से हमको भी उसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। प्रथमानुयोग से हम आप सबको बड़ी प्रेरणा मिलती है। जैसे और लोग उपन्यास पढ़ते हैं तो उससे उनको भी कुछ प्रेरणा मिलती है। हाँ उनसे खोटी प्रेरणा मिलती है, अपने परिणाम बिगड़ते हैं। जैसा कथन पढ़ा होता है वैसे परिणाम बनते हैं। तो हम महंत पुरुषों के जब चरित्र सुनते हैं, कैसे उनके ज्ञान जगा, कैसे वैराग्य जगा तो उसको पढ़कर हमारा भी परिणाम निर्मल होता है।

हम यात्रा में महंत पुरुषों की प्रतिमाओं के दर्शन करते हैं उनका चरित्र पढ़ते व सुनते हैं तो हमको भी उससे एक हित की प्रेरणा मिलती है। जैसे सम्वेद शिखर की वन्दना करते हैं तो अनेक तीर्थकरों का चरित्र याद आ जाता है, उससे हमारा भी चित्त विशुद्ध होता है। शास्त्रों में रामचन्द्रजी का वर्णन आया है (पद्मपुराण में) कैसी गम्भीरता उनमें थी, कैसी नीति थी, क्या नियम था उनका, पर आत्मकल्याण के लिए सब कुछ त्याग ही त्याग किए रहे। जितने वर्ष उन्हें राज्य भी मिला तो क्या राज्य किया, राज्य करना तो

चित्त में था ही नहीं, चित्त में तो था प्रजा का सुखी होना, राज्य का काम सही बना रहे, अन्त में आत्मकल्याण का चित्त चला। सम्पदा से तो तब भी विरक्त थे और अन्त में भी। दूसरा वेद हे करणानुयोग। इसमें परिणामों की जाति का वर्णन है, कर्मों की जाति का वर्णन है, तीन लोक तीन काल का वर्णन है। बताया है कि यह सारा लोक 343 घन राजू प्रमाण है। इस लोक के प्रत्येक प्रदेश पर यह जीव जन्मा है और मरा है। कोई जगह इस विश्व में नहीं बची जहाँ पर इस जीव ने जन्म और मरण किया हो। तो इससे भी ज्ञान जगता है। जगत में अनन्त जीव हैं, इन अनन्त जीवों में से प्रत्येक जीव का कोई न कोई सम्बंध अनन्त भवों से रहा आया, चाहे निगोदिया बनकर ही सम्बंध रहा आया हो, तो फिर इनमें यह क्या छटनी करना कि ये मेरे बन्धु हैं, ये मेरे बैरी हैं—ऐसा सोचना तो एक मूढ़ता भरी बात है। यहाँ कौन किसका बंधु और कौन किसका बैरी? कितना बारीक कथन करणानुयोग में है कि कर्मों का प्रत्येक समय में क्या-क्या परिणाम होता है? जीव के भावों का प्रति समय कैसा-कैसा परिणाम चलता है? बहुत बड़ी बारीकी की बात करणानुयोग में बतायी है। उसको सुनकर इतना विश्वास दृढ़ होता है कि सर्वज्ञदेव का कहा हुआ वचन है, नहीं तो इतना बारीक कथन और कोई कैसे कर सकता है? तो करणानुयोग से हमें आत्महित की शिक्षा मिलती है? चरणानुयोग में यह बताया है कि हमारा जो परिणाम मिलता है वह किसी परवस्तु का आश्रय लेकर होता है। राग होगा तो कोई परपदार्थ मन में बसा होगा। और राग का स्वरूप इसी तरह बनता कि कोई परपदार्थ उपयोग में है तो राग बन रहा है। आप किसी भी परवस्तु का ध्यान न करें और राग बनावें तो नहीं बन सकता है। किसी में स्नेह है तभी तो राग बनता है। चरणानुयोग कहता है कि पर का आश्रय लेकर राग बनता है, इसलिए हम पर-आश्रय का त्याग करें। कम से कम सम्पदा रखें, अष्टमी चौदस को आरम्भ परिग्रह त्यागें, एक दो बार विधिवत् सामायिक करें, कुछ समय को भोगसाधन हटावें, भोगोपभोग का परिणाम करें। ये सब बातें बताया है। उसका प्रयोजन है कि परवस्तु का आश्रय लेकर रागभाव हुआ करता है तो उन परवस्तुओं के आश्रय से हमारा रागभाव है। जीवों को जितने क्लेश हैं वे सब रागद्वेष मोह भाव के हैं अन्यथा कोई क्लेश नहीं। जीव का स्वरूप ज्ञान और आनन्दमय है, उसमें कोई आकुलता नहीं है। चरणानुयोग हमें यह शिक्षा देता है कि तुम परवस्तुओं का आलम्बन छोड़ दो। जितना तुम अपने को अकेला रख सकोगे पर से न्यारा रख सकोगे, अपने आपको लख सकोगे उतना ही तुम्हारा कल्याण है। द्रव्यानुयोग हमें वस्तु का स्वरूप बताता है, जीव का क्या स्वरूप है, पुद्गल का क्या स्वरूप है, ऐसा हमें लक्षण सिखा करके हमें पर से हटाकर अपने आपमें लगाना चाहता है। तो द्रव्यानुयोग भी हमारे लिए बहुत सहायक है। इसमें चार अनुयोगों में यह श्रुतज्ञान विभक्त है। इस प्रकार चार प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन करें। हर एक शास्त्र में अलग-अलग माहात्म्य पड़ा हुआ है।

श्लोक-1615

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं तृतीयं योगिलोचनम्।

नयद्वयसमावेशात् साद्यनादि व्यवस्थितम्॥1615॥

श्रुतज्ञान उत्पादव्ययधौव्य करके संयुक्त है और योगियों का तीसरा नेत्र है। आगम नेत्र है साधुओं का। दुनिया के नेत्र चर्म के हैं, मगर साधुओं के नेत्र आगम हैं, तभी तो किसी भी बात का निर्णय करने के लिए कह बैठते हैं कि फलाने शास्त्र में देखो उस आधार से चले हैं। तो हम आपको आगम का एक बहुत बड़ा सहारा है। आगम में जो मार्ग दिखाया है हम उस मार्ग से चलें। यह श्रुतज्ञान शास्त्र का प्रवाह अनादि भी है और सादि भी है। ये शास्त्र जो चले आ रहे हैं, यह ज्ञानपरम्परा तो चली आ रही है वह सब अनादि से भी है और उसकी शुरुवात भी है। महावीर स्वामी ने दिव्यध्वनि में इन शास्त्रों का वर्णन किया, पर महावीर स्वामी से पहिले तीर्थंकर और हुए, उन्होंने भी वर्णन किया और इस चौथे काल में पहिले और भी तीर्थंकर हुए उन्होंने भी वर्णन किया, यों श्रुतज्ञान प्रवाह रूप से अनादि से है किन्तु अपने-अपने समय में तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से प्रकट हुए हैं। आदिनाथ स्वामी के समय में जो जैनशासन का प्रचार था वह उनके मुक्त होने के बाद, समय गुजरने के बाद विच्छिन्न हो गया, जैनशासन न रहा, धर्म के परिज्ञान का आचार विचार का लोप हो गया, तब फिर अजितनाथ तीर्थंकर हुए, उनकी दिव्यध्वनि में प्रकट हुआ। जैनशासन समय-समय पर तीर्थंकरों से प्रकट होता है। इसलिए जैनशासन सादि है किन्तु उसकी परम्परा अनादि काल से बराबर चली आयी है, और अनादि है जैनशासन इसका साक्षात् प्रमाण यह है कि जैनशासन में बताया गया है वस्तु का स्वरूप और वस्तुस्वरूप है उसमें जो जिसमें गुण और पर्याय की बात पायी जाय। उसका वर्णन भगवान ने किया है। तो जैनशासन वस्तु के स्वरूप का वर्णन करता है और वस्तु का स्वरूप सदा रहता है, चाहे उसको कोई जानने वाला हो, चाहे न हो, परवस्तु का स्वरूप कहाँ चला जायेगा? वस्तु का जो स्वरूप है, स्वभाव है वही धर्म माना गया है। तो जैन धर्म, जैन शास्त्र ये अनादि काल से बराबर चले आ रहे हैं। तो द्रव्यनय की अपेक्षा तो यह श्रुतज्ञान, जैनशासन, इतना सब शास्त्रज्ञान, यह अनादिकाल से हैं और पर्याय दृष्टि से तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से प्रकट हुए हैं इस कारण यह सब शासन सादि है। यह सब अंग पूर्व के रूप में बंटा है जिसमें सब विद्याएँ गर्भित है। यह समस्त श्रुतज्ञान अनादि भी है और सादि भी है।

श्लोक-1616,1617

निःशेषनयनिक्षेपनिकषग्रावसन्निभम्।

स्याद्वादपविनिघतिभगनन्यमतभूधरम्॥1616॥

इत्यादिगुणसंदर्भनिर्भरं भव्यशुद्धितम्।

ध्यायन्तु धीमतां श्रेष्ठाः श्रुतज्ञानमहार्णवम्॥1617॥

यह जैनशासन स्याद्वाद की कसौटी पर कसा हुआ है। समस्त नय-निक्षेप से इस वस्तुस्वरूप की परीक्षा होती है इसलिए यह श्रुतज्ञान कसौटी के समान है। जैसे कसौटी से कसकर हम स्वर्ण की बात बता सकते हैं कि यह सही है, इसमें दोष है ऐसे ही इस ज्ञान से वस्तुस्वरूप को हम कस सकते हैं कि यह वर्णन सही है या गलत है। स्याद्वाद से उन समस्त नयों का निर्णय आ गया है और भिन्न-भिन्न दृष्टियों से वस्तु के स्वरूप को समझाया गया है। इस दृष्टि से यह स्वरूप सत्य है इस दृष्टि से यह। तो स्याद्वाद वस्तु के स्वरूप की परीक्षा करने के लिए कसौटी के समान है। जिस कथन में स्याद्वाद का पुट लगा हो वह कथन तो जैनशासन का कथन है और जहाँ एकान्त धारा बनायी गयी हो वह जैनशासन से बाह्य कथन है। जैसे व्यापारी लोग अपनी वस्तुओं पर ट्रेडमार्क लगा देते हैं। यदि वह ट्रेडमार्क लगा हो तो समझो कि वह उस व्यापारी की चीज है इसी प्रकार जिस कथन में स्याद्वाद का पुट हो उसे ही समझना चाहिए कि यह जैनशासन का कथन है। जैनशासन में नयों का वर्णन है। और जिस नय से जो बात कही जा रही है उस समय उस नय से कथन चलेगा। जिस नय से जिस समय बात चलेगी उस समय उस नय की ही पूरी शक्ति लगाकर बात कही जायगी। तो सुनने में ऐसा लगेगा कि यह एकान्त कथन चल रहा है लेकिन एक नय से खूब विशेष वर्णन करने वाले पुरुष अपने उपयोग में दूसरे नय की बात को भी अपनी धारणा में बनाया है तो एकान्त का दोष नहीं कहलाता। और दूसरे नय की बात का भीतर से खण्डन का भाव ही रखा हो और एक नय का वर्णन किया जाय तो वह एकान्त मत कहलाने लगता है।

जैन शासन में जितना भी वर्णन है वह वर्णन आगे पीछे किसी न किसी प्रकरण में स्याद्वाद की मुद्रा को लेकर कथन है। स्याद्वाद की झलक जिस उपदेश में न आये वह उपदेश जैनशासन से बाह्य का उपदेश है, लेकिन सुनने वालों को इतनी धीरता से सुनना चाहिए कि करता जाय और यह बाट जोहता रहे कि कहीं तो स्याद्वाद की मुद्रा लगी होगी? जिस नय से जब वर्णन चलता है उसी नय से वर्णन है, पर देखें कि आगे पीछे कहीं अन्य नय की झलक बतायी जाती है या नहीं। अगर दूसरे नय की बात नहीं आती है तो समझो कि

वह जैनशासन से बाहर वर्णन है। जैनशासन वस्तुस्वरूप की परीक्षा करने के लिए कसौटी की तरह है और स्याद्वाद एक तरह से कसौटी बन्न है। जैनशासन इसलिए सही है कि सब दृष्टियों से वस्तुधर्म का वर्णन करता है और वर्णन करने के बाद फिर लक्ष्य विशुद्ध बनाता है कि हम लक्ष्य बनायें द्रव्यस्वभाव का। तो जैनशासन भेदविज्ञान का वर्णन करता है और भेदविज्ञान की बात सीखा कर हेय से छुड़ाकर उपादेय तत्त्व में लगाता है। इससे बढ़कर हमारे कल्याण का साधन और क्या होगा? हम आपको सहारा एक श्रुतज्ञान का है। श्रुतज्ञान वह दीपक है जिससे हम अपनी अवस्था से मार्ग को देख सकते हैं और अपने मार्ग पर चल सकते हैं। ऐसा आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को मुख्य करके तत्त्व का चिन्तन करता है। इस प्रकार अनेक गुणों से भरा हुआ और भव्य जीवों को शुद्धि प्रदान करने वाला यह श्रुतज्ञानरूपी महारत्न है। इसको श्रेष्ठजन मन लगाकर ध्यान करो।

श्लोक-1618

यज्जन्मज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यदभ्यचितम्,
यत्स्याद्वादमहाध्वजं नयशताकीर्णं च यत्पट्यते।
उत्पादस्थितिभङ्गलाञ्छनयुता यस्मिन् पदार्था स्थितास्-
तच्छ्रीवीरमुखारविन्दगदितं दद्याच्छ्रुतं वः शिवम्॥1618॥

श्रुतज्ञान का महत्त्व बता रहे हैं कि यह श्रुतज्ञान जन्मरूपी ज्वर का विनाश करने वाला है। तो जन्म मरण परम्परा का विनाश होने के लिए हम आप सबका यदि कोई सच्चा सहारा है तो श्रुतज्ञान का है। हम इसी ज्ञान के द्वारा अपने मन को विशुद्ध बनाते हैं तथा तत्त्व का परिज्ञान होता है, भेदविज्ञान प्राप्त करते हैं और हेयतत्त्वों को छोड़कर उपादेय तत्त्व में हमारी लगन लगे, इसकी प्रेरणा हमें श्रुतज्ञान से मिलती है। और अन्तरङ्ग से विचारें तो श्रुतज्ञान के सिवाय हम आपका कोई सहारा नहीं है जो हमें दुःखों से छुटा सके। बाहर में हम बहुत से खोटे विचारों से बचते हैं और अच्छे तत्त्व में लगने के लिए हमें उसके साधनों से प्रेरणा मिलती है लेकिन फिर भी श्रुतज्ञान नहीं है तो हम अपना कल्याण नहीं कर सकते हैं। सभी परिस्थितियों में हमें ज्ञान से सहारा मिलता है। ज्ञान, मति, बुद्धि यदि सही रहती है तो व्यवहार में, व्यापार में, अन्य-अन्य सब प्रकार के व्यावहारिक कार्यों में हम सफलता भी कर लेते हैं। तो समझिये कि हम सफलता पा सकें, इसके लिए कोई सहारा है तो श्रुतज्ञान का है। यदि यह ज्ञान परिपूर्ण हो जैसा कि तीर्थंकर के ज्ञान से चला आया है, जिसका प्रवाह अनादि से है, कभी बीच में विच्छिन्न भी हुआ तो वैसा का ही वैसा श्रुतज्ञान अनेक

तीर्थकरों ने अपनी दिव्यध्वनि में कहा है। तीर्थकरों की वाणी में वस्तुस्वरूप का वर्णन है। और वस्तु का जो स्वरूप है सो है ही, वह बदला नहीं जाता, अतएव अनन्त तीर्थकरों की दिव्यध्वनि की पद्धति एक ही प्रकार की हुई। इसलिए श्रुतज्ञान की परम्परा अनादि से चली आयी है। इस श्रुतज्ञान का हमें बड़ा सहारा है। इस श्रुतज्ञान के सहारे से भेदविज्ञान को पाकर हम जब अपने में यह भावानाभ्यास करते हैं कि समस्त परपदार्थों से निराला केवल ज्ञानस्वरूपमात्र हूँ, देह से रहित हूँ, ऐसा अपने आपको परखा है और ऐसा ही अनुभव किया है तो इसके प्रसाद में देहरहित अवस्था बनती है, और यदि हम देह को अपनायेंगे, देह में ममत्व परिणाम रखेंगे तो देह मिलते रहने की परम्परा चलती रहेगी। तो जन्ममरण से छुटकारा प्राप्त कराने का एकमात्र सहारा श्रुतज्ञान है। ज्ञान सही रहे तो सर्व वैभव है, ज्ञान बिगड़ जाय तो फिर कुछ नहीं रहा। जैसे व्यवहार में किसी का ज्ञान बिगड़ जाय याने पागल हो जाय, दिमाग खराब हो जाय तो वह लखपति भी हो तो उसके लिए वह सारा वैभव बेकार है। वह तो गरीब का ही गरीब है, ऐसे ही समझिये कि हम आपका ज्ञान यदि सही है अर्थात् वस्तु का जो स्वरूप है उस स्वरूप को परखने वाला है, हम अपने उपयोग को इस तरह जमाये हुए हैं कि शरीर भिन्न है, और इस शरीर का भान छोड़कर अपने आपका ज्ञानानुभव करते हैं ऐसा ज्ञान सही बनता है तो नियम से जन्मज्वर मिट जायगा, इसमें तो संदेह है ही नहीं। ऐसा अनुभव करने के लिए जो ध्यान पद्धतियाँ बतायी गई हैं और उनमें जो विधि कही गई है उनमें बड़ा मर्म ज्ञात होता है, प्रयोग करके देख लीजिए।

ध्यान में एक पद्मासन मुख्य बताया है। उस आसन में प्रत्येक अंग जुड़े-जुड़े रहते हैं। इसके मायने यह है कि हम यदि शरीर को हाथों से यों छुवे हुए रहेंगे तो वह ध्यान में बाधा देने वाली मुद्रा है। कोई अंग किसी अंग को छूता हुआ न रखें, ऐसी स्थिति में देह का भान भूल जाना सुगम है। इसका सीधा मतलब यों निकालें कि इन्द्रिय का व्यापार हम जब तक रखते हैं तब तक हमें अपने विशुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं बनता। जैसे आँखें खोलकर बाहर में देखते हैं तो कुछ न कुछ उपयोग पर को लपेट करके रहता है तो इसी प्रकार यह एक स्पर्शन इन्द्रिय है, हम हाथ से जानकर कोई दूसरा अंग छूकर रहेंगे तो वह स्पर्शन इन्द्रिय का व्यापार है। तो पद्मासन की एक ऐसी स्थिति है जिसमें स्पर्शन इन्द्रिय का व्यापार नहीं रहता। ऐसी ही कायोत्सर्ग की बात है। और उस आसन में दोनों में एक सीधा वक्षस्थल करके रहना होता है। जैसे जो श्वास नली है वह सीधी रहने के कारण श्वास का आना-जाना बिना कष्ट के रहता है, वह स्थिति भी हमारे चित्त को ध्यान को विशुद्ध बनाने में एक बाह्य साधन है। श्वास को धीरे-धीरे खींचते और धीरे-धीरे छोड़ते रहते हैं, ये जो तीन पद्धतियाँ है ये कायोत्सर्ग और पद्मासन में विशेष साधक होती हैं। तो ऐसे आसन में स्थिर होकर देह का भी ख्याल छोड़कर अपने आपमें ज्ञानमात्र अपनी प्रतीति जो चलती है उस अनुभव के प्रसाद से जन्मज्वर दूर हो जाता है। संसार में सार अन्य कुछ काम नहीं है। एक हमारे जन्म-मरण की परम्परा मिटे यही सारभूत काम है। परपदार्थों से स्नेह करने में, उनमें ममत्व करने में तो अपनी बरबादी ही है। अपना

लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि हम अपने आपका जैसा सहजस्वरूप है उस प्रकार से अपने को निरखें, यहाँ कोई किसी का सम्हालने वाला नहीं है। यहाँ किनमें हम अपनी रुचि करें, किनमें अपना आकर्षण बनायें, यहाँ किनको प्रसन्न करने की बात सोचें? यहाँ कुछ भी कोशिश करना बेकार की चीज है। क्योंकि इन किसी भी कार्यों में कुछ सार है ही नहीं। यहाँ सभी केवल अपनी-अपनी ही मदद कर सकते हैं। अपनी आत्मरक्षा तो ज्ञान के प्रभाव से बनती है। सर्वप्रथम आलम्बन हम आपका श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञान के उपकार का, इस श्रुतज्ञान की महत्ता का हम कहाँतक वर्णन करें? हमारा एक मात्र सहारा यह श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान तीन भुवन के ईशों से पूजित है। जिसकी ओर हमारी एक उत्सुकता रहती है उसी की तो हम पूजा कर रहे हैं। थाली में कोई चीज रखकर आरती उतारने का नाम पूजा नहीं है। जो कुछ चित्त में समाया हुआ हो, जिसकी ओर अधिक आकर्षण बना रहता हो, समझो उसी की हम पूजा कर रहे हैं। तो तीन लोक के इन्द्र और सभी आत्मानार्थी इस श्रुतज्ञान की ओर आकर्षित हैं, तत्त्वज्ञान की ओर आकर्षित हैं।

हम आपका भला तत्त्वज्ञान कर सकता है अन्य कोई नहीं। फिर ये जो पूर्वोत्तर भेष बनते हैं प्रतीति बनती है ऊँचे ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, ऐलक आदिक ये सब इस आधार पर बनते हैं कि तत्त्वज्ञान में बाधा न आ सके, इसके लिए छानबीन करके बताया है। दिव्यध्वनि की परम्परा में यह बताया गया है कि इस तरह परिग्रहों से निवृत्त हों, भेष-भेष नहीं है। परिग्रह से निवृत्त होने में जो बात रह गयी उसे भेष कहने लगे। मुनि-भेष भेष नहीं, किन्तु जब आरम्भ का परिग्रह का त्याग कर दिया, आकुलतावों के साधनों का त्याग कर दिया, नाना प्रकार के विकल्पों का साधन जानकर इन सब परिग्रहों का जब त्याग कर दिया तो अब जो रूप रह गया सो रह गया, उसी को मुनि का भेष कहते हैं। कोई कहे कि मुझे मुनिदीक्षा दो तो उसके चित्त में यह बात रहनी चाहिए कि मैं समस्त आरम्भ परिग्रहों से निवृत्त होकर ज्ञान की उपासना कर रहा हूँ इसलिए मुझे आप दीक्षा दीजिए। कोई भेष का ध्यान रखकर चाहे कि मैं यह दीक्षा लूँ तो उसने दीक्षा का मर्म नहीं जाना। मैं ज्ञानस्वरूप की उपासना में आना चाहता हूँ, अन्य समस्त आरम्भ परिग्रहों का त्याग करता हूँ, ऐसी अन्तरङ्ग में भावना हो तो यह है उसकी दीक्षा। तो यह सब तत्त्वज्ञान के प्रसाद से प्राप्त होता है। और तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए यह व्रत अंगीकार किया गया है। समस्त व्रतों का नियम प्रयोजन यह है कि हम अपने सहज स्वरूप की उपासना में सफलता प्राप्त करें। यही सबका लक्ष्य है। यदि यह लक्ष्य न रहा तो केवल पर दृष्टि ही रही। भली प्रकार से समितियों का पालन भी किया जा रहा हो पर स्वदृष्टि बिना वहाँ मुनित्व कहाँ आया? उन संयमों का प्रयोजन यह है कि हम सहज ज्ञान की उपासना में निर्वाध उत्तीर्णता प्राप्त करें। जब लक्ष्य ही भ्रष्ट हो जाता तो व्रत नियमों में भी चित्त नहीं लगता और परस्पर में बैर विरोध हो जाता, एक दूसरे की निन्दा करने लगते। ये सब ऐब एक तत्त्वज्ञान की महिमा और लक्ष्य न होने के कारण आ जाते हैं। तो जितने आत्मारथी हैं, बड़े-बड़े पुरुष हैं वे किस ओर आकर्षित हैं? तत्त्वज्ञान की ओर। इसलिए यह श्रुतज्ञान बड़े-बड़े इन्द्रों के द्वारा पूजित है। जो स्याद्वाद रूपी बड़ी ध्वजा वाला है। मानो एक श्रुतज्ञान की

सेना निकली, श्रुतज्ञान का जुलूस निकला, अर्थात् जितना ज्ञान, जितनी विद्याएँ, जितनी कलाएँ हैं उन सब कलाओं का प्रागट्य जहाँहो रहा हो तो ऐसे उस महान समारोह में ध्वजा तो है स्याद्वाद। जैसे आजकल के लोग ध्वजा की पूजा करते हैं, झंडा ऊँचा रहे हमारा, इसकी शान न जाने पावे, चाहे जान भले ही जावे आदि। तो जितना तत्त्वज्ञान है, विद्याएँ हैं, कलायें हैं, वर्णन हैं वे सब इस स्याद्वाद का पुट रखकर अपना विकास पाते हैं। जहाँस्याद्वाद का पुट नहीं वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं है।

भैया ! इतनी धीरता रखना चाहिए कि कोई भी वर्णन हो, जिस नय का वर्णन चल रहा है, वहाँ की पद्धति तो यह है कि और नयों का ख्याल भी न करें और उस नय का जो विषय बनता है खूब निचोड़ के साथ उसका खूब प्रकटता के साथ वर्णन करें तब तो उस दृष्टि का वर्णन हो सकता है। औरों के भय से एकदम निश्चय का वर्णन न करें, बीच-बीच में व्यवहार को लपेटने जावें तो निश्चय का विषय रहस्य बैठ नहीं सकता। अब हम जिस विषय को देख रहे हैं तब तो हमें उस-उस की ही महिमा का गुण गाना है। तब धीरता इतनी रखना चाहिए कि कुछ लम्बा भी प्रकरण हो जाय किसी नय का तो यह देखें कि इसके पूर्व इसके बाद कहीं भी इससे भिन्न प्रतिपक्षी व्यवहार का भी कहीं जिक्र किया है या नहीं। बड़े-बड़े ग्रन्थ समयसार सरीखे में आचार्यदेव यह नहीं कर सके कि कोई एक अधिकार लें तो एक नय का जिसका लक्ष्य रखा उसको ही यह निभा सके, बल्कि कहीं-कहीं तो एक ही गाथा में निश्चय और व्यवहार की बात आ जाती है। दोनों नयों का एक साथ इस गाथा में वर्णन चल रहा है। तो स्याद्वाद इसकी महान ध्वजा है और वर्णन की एक पद्धति है कि जहाँ जिस नय की मुख्यता रखना हो उस नय की बात बाद में बोली जाती है। पहिले तो गौण बात कह देनी चाहिए, यह बात आपको आचार्यों की कृति में मिलेगी। जैसे एक जगह बताया है कि जैसे समुद्र की लहर वाली अवस्था और बिना लहर की अवस्था इन दोनों अवस्थाओं में निमित्त हवा का चलना है। और हवा नहीं चलती है तो भी समुद्र अपने आपके स्वरूप में ही अपना परिणमन करता है और अपना अनुभव करता है। बात दोनों कहीं गई हैं लेकिन गौण बात को पहिले रखा है, मुख्य बात को उसके बाद रखा है। यह भी एक खासी पद्धति समयसार के अन्दर जगह-जगह मिलेगी तो स्याद्वाद की महान ध्वजा यह श्रुतज्ञान है और यह श्रुतज्ञान सैकड़ों नयों से आकीर्ण है। नय कितने हैं? जितने वचन हैं, जितने आशय हैं उतने नय हैं। 7 नय है, 4 नय हैं, 3 नय हैं, 2 नय हैं यह तो जाति की अपेक्षा और उसका संक्षेप करके बताया गया है। नयों का कोई पार नहीं पा सकता है। जितने वचन हैं उतने ही नय हैं। तो सैकड़ों नयों से यह श्रुतज्ञान आकीर्ण है, व्याप्त है। इसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त पदार्थ रहते हैं ऐसा वर्द्धमान स्वामी के मुखकमल से विनिसृत ज्ञान है।

हम सब श्रोताओं को आचार्यदेव कह रहे हैं कि हम सब श्रोताओं को कल्याणरूप हो। आशा करो तो तत्त्वचिन्तन की। किसी की ओर शरण गहने की दृष्टि बनाने से कुछ लाभ न मिलेगा। इस थोड़े से 10-20-50 वर्ष के जीवन के लिए यदि कुछ ढंग बना रखा है वैभव, समागम, इज्जत, पोजीशन, ठाठबाट कुछ

अगर बना रखा है तो उससे क्या पूरा पड़ने का? ये सब कुछ ही क्षण बाद मिट जाने वाले हैं। और जब तक हैं भी साथ में तब तक भी ये अशान्ति के ही कारण बन रहे हैं, हमारे हित के हेतु नहीं बनते। तो इनकी हम क्या आशा करें? इनसे हम क्या पा सकेंगे? हम कुछ पा सकते हैं तो एक अपने ज्ञान से पा सकते हैं, अन्य उपायों से हमें कुछ लाभ नहीं मिल सकता। और यह उपाय गुप्त है, गुप्त साधन से बनता है, इसे गुप्त होकर ही बनाया जा सकता है। इसे किसी को बताने की बात नहीं है। स्वाध्याय में भी जो धर्मोपदेश नाम का भेद बताया गया है उस धर्मोपदेश के स्वाध्याय करने वाले अर्थात् धर्मोपदेष्टा यदि अपने आपको तत्त्वज्ञान सिखाने के लिए, अपने आपके उस सहज स्वभाव की दृष्टि बनाने के लिए इस मुख्यता में उसका अगर उपदेश प्रवर्तन चलता है तो वह उसका स्वाध्याय श्रुतज्ञान का आलम्बन है और धर्मोपदेश का स्वाध्याय का भेद रखने में संतों ने कितनी खूबी दिखाया है कि एक आधार होता है—अपने आप बैठे ही बैठे उस तत्त्वज्ञान की बात को कब उपयोग में रखें यह करना जब कठिन हो जाता है तो यह एक पद्धति बहुत सुगम है कि अपने आपकी दृष्टि कुछ बताने के लिए कि हम साधर्मि बन्धुओं को, आत्मार्थी संत पुरुषों को उसकी बात कहने लग जायें। तो वह एक रास्ता है जिस रास्ते से उठकर हम एक तत्त्वचर्चा और एक तत्त्वज्ञान के वातावरण में पहुँच जाते हैं। वहाँ कर्तव्य यह है कि जो कुछ मुख से कहते हैं, कह रहे हैं तब तक कह रहे हैं लेकिन कहते हुए भी अपने आपमें उसे खोजने लगे। अपने आपको हम समझा रहे हैं इसलिए भी हम दृष्टि अपनी रखें तो वह हमारे लिए लाभदायक चीज बने।

यह श्रुतज्ञान हम सबको कल्याणरूप हो, हम सबको मंगल करे। पाप दूर होंगे तो इस तत्त्वज्ञान के आलम्बन से होंगे। इतना श्रेय प्रकट होगा, प्रसन्नता प्रकट होगी, निर्मलता बनेगी तो इस तत्त्वज्ञान के सहारे बनेगी। मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, जिसे कोई पहिचानने वाला ही नहीं। और अगर कोई पहिचान लेवे मेरे उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप को तो पहिचानने वाले की निगाह में मेरा तेरा रहता ही नहीं। इस चैतन्यस्वरूप को कौन जाने? अगर उस चैतन्यस्वरूप को जाने तो वह चित्स्वरूप है और मेरे तेरे आधारों से दूर है और वह अपने आपकी ही भावनारूप है। तो वह तो खुद का परिचयी बन गया, दूसरे का क्या परिचयी बना? लोग मुझे जानते नहीं, लोग मेरी पुकार सुनते नहीं क्योंकि मेरा जो स्वरूप है उसका कोई नाम ही नहीं। तो जो व्यवहार से परे है ऐसा विशुद्ध चैतन्यमात्र मैं हूँ, ऐसी दृष्टि बने तो यही है तत्त्वज्ञान का उपयोग। और यही है समस्त श्रुतज्ञान का सारभूत तत्त्व। सब कुछ श्रुतज्ञान किया, 11 अंग 9 पूर्व तक का ज्ञान किया और यह अनुभूति प्रकट नहीं हुई। अपने ज्ञानानन्द स्वरूप का एक अनुभव ही नहीं बना, निर्विकल्प स्थिति नहीं बन सकी। सर्व कुछ परतत्त्वों को भूलकर एक अपने आपमें कुछ साधारण न रह सके, सामान्य न रह सके तो श्रुतज्ञान क्या जाना? तो ऐसा अपने आपका अनुभव जगना यह तत्त्वज्ञान, यह श्रुतज्ञान हम सबका कल्याण करे। आचार्यदेव के शब्दों में तुम सबका कल्याण करे। आचार्यदेव इस प्रकरण में ऐसी भावना भा रहे हैं। यह तत्त्वज्ञान असली तीर्थ है जो हम सबको तार सकता है। और इसके बिना हम बाहर में तीर्थ-तीर्थ करते हैं

मगर तीर्थ मिलता नहीं है। अपने परमार्थ तीर्थ का पता हो तो हम तीर्थों से अपने विशुद्ध तीर्थ में लगने का लाभ पा सकते हैं, प्रेरणा मिल सकती है। हम अपने आपके तीर्थ का आलम्बन लें इसके लिए प्रेरणा मिलती है। अपने तीर्थ में जो स्थिर हो सकता है वह तो तिर जाता है और जो अपने तीर्थ में स्थिर नहीं हो सकता है वह तिर नहीं सकता। और वह तीर्थ हमें श्रुतज्ञान के आलम्बन से ही प्राप्त होता है अतएव इस श्रुतज्ञान की महिमा के उपकार का कोई वर्णन नहीं कर सकता। आज्ञाविचय धर्मध्यानी सम्यग्दृष्टि पुरुष इन सब तत्त्वों का ज्ञान करता हुआ वह जिनेन्द्र भगवान को नहीं भूलता, क्योंकि उनकी आज्ञा से, उनके बताये हुए श्रुतज्ञान के आलम्बन से ही उन्होंने कल्याण प्राप्त किया।

श्लोक-1619

वाग्देव्याः कुलमन्दिरं बुधजनानन्दैकचन्द्रोदयम्,
मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम्।
तत्त्वाभासकुरङ्गपञ्चवदनं भव्यान् विनेतुं क्षमम्,
तच्छ्रीत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः सिद्धान्तवार्द्धैः पयः॥1619॥

यह श्रुतज्ञान अर्थात् तत्त्व के स्वरूप का परिज्ञान वाग्देवी का कुलमंदिर है, अर्थात् वचनदेवता सरस्वती इस ही में निवास करती है। सरस्वती शब्द स्त्रीलिङ्ग का है। सरस्वती शब्द का अर्थ है विस्तार वाली। जिसका फैलाव हो उसको सरस्वती कहते हैं। सर्वाधिक फैलाव है विद्या का, इसलिए विद्या का नाम सरस्वती है। तो वचनदेवी का यह श्रुतज्ञान कुलमंदिर है, विद्याभवन है, यह निवास करती है। वचन कहाँ हो? जहाँ ज्ञान हो। जहाँ अपार ज्ञान है वहाँ ही तो वचनदेवी रहती है। तो यह श्रुतज्ञान वाग्देवी के निवास का मंदिर है। समस्त व्याख्यान इस श्रुतज्ञान के अनुभव अथवा ज्ञाता पुरुषों से विनिश्चित हुआ और यह श्रुतज्ञान अथवा अलंकार में जल की उपमा दी गई है, यह बुद्धिमान पुरुषों के आनन्द को प्रकट करने के लिए एक चन्द्रोदय की तरह है। जैसे चन्द्र का उदय मनुष्यों को आनन्द प्रकट करता है इसी प्रकार यह श्रुतज्ञानरूपी जल विद्वान पुरुषों को आनन्द प्रकट करता है। और यह मुक्ति का मुख्य मंगल है। जैसे किसी लक्ष्य के स्थान पर पहुँचने के लिए प्रारम्भ में मंगल वस्तुओं से प्रयाण कराया जाता है जिससे यह प्रयाण में निर्वाध चले तो मोक्षमंदिर में जाने के लिए यह सिद्धान्त जल एक मंगलरूप है। यहाँ से प्रारम्भ होता है। जिनका भी उत्कर्ष होता है उनका इस विज्ञान के अभ्यास से प्रारम्भ होता है। इससे पहिले नहीं। श्रुतज्ञान को इसीलिए मन का विषय बताया गया है। मन वाले पुरुष ही इस श्रुतज्ञान का उपयोग कर सकते हैं। वैसे साधारणतया तो मतिज्ञान और

श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय तक के होते हैं। जिनके मन भी नहीं है उनके भी श्रुतज्ञान है, पर वह श्रुतज्ञान जो मुक्ति में पहुँचाने के लिए अग्रिम मंगल है, आत्मकल्याण का परम साधक है ऐसा यह श्रुतज्ञान है, केवल मन का विषय है। एकेन्द्रिय आदिक के जो श्रुतज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान वासना संस्कार संज्ञा और इन्द्रिय का क्षयोपशम, इन सबसे सम्बंध रखता है। मन तो है ही नहीं, इस कारण विवेकी की बात उन असंज्ञी जीवों के नहीं हो सकती। जिनके मन है उनके ही विवेक भावना जग सकती है। मन कहते ही उसे हैं जो शिक्षा उपदेश ग्रहण कर सके। श्रुतज्ञान एक साधारण शब्द है। श्रुतज्ञान में शास्त्र भी आ गए और वे सब ज्ञान भी आ गए जो मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ में कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं। हमारे व्यावहारिक जितने भी ज्ञान हैं ये सब श्रुतज्ञान हैं। मतिज्ञान को तो कोई बता भी नहीं सकता। वह निर्विकल्प है। जैसे सबसे पहिले नेत्र इन्द्रिय से निरखा और निरखते ही यह भाव बने कि यह सफेद है तो वह श्रुतज्ञान हो गया। देखा गया सफेद से और निरखा गया सफेद ही और मतिज्ञान में भी वही आया। अगर सफेद है इस प्रकार की विशेषता को लेकर ज्ञान बना तो श्रुतज्ञान है। उसके लिए एक ऐसा दृष्टान्त रख सकते हैं समझने के लिए कि जैसे जल्दी का उत्पन्न हुआ बालक कमरे में रखी हुई सारी वस्तुओं को निरख तो लेता है पर उसके चित्त में यह सफेद है, पीला है, कैसा है, क्या है यह कुछ नहीं जानता है। यद्यपि उसके उस निरखने में भी श्रुतज्ञान है, कहीं वह मतिज्ञान नहीं बन गया, पर मतिज्ञान श्रुतज्ञान का अन्तर बताने के लिए दृष्टान्त है। तो श्रुतज्ञान एक विशेष श्रुतज्ञान है, और तत्त्वार्थ सूत्र में जो श्रुतज्ञान को जो मन का विषय बताया है उसका इस मनपूर्ण श्रुतज्ञान से सम्बंध है। यह मन का विषय है। और यह सिद्धान्त के लिए अथवा श्रुतज्ञान मोक्षमार्ग में गमन करने के लिए एक दिव्यवाद्य विशेष है। जैसे बड़े उल्लास के साथ गमन किया जाता है तो आगे-आगे बाजे बजते हुए जाते हैं। लोग जानते हैं कि अब आगमन हुआ है इसी प्रकार यह श्रुतज्ञान मोक्षमार्ग में जाने वाले संत पुरुषों के लिए बाजे की तरह है, अग्रिम चीज है, वह दिव्य अलौकिक पट है। मुक्तिनगर में इस आत्मा का प्रवेश हो रहा है तो पहले पहल यह श्रुतज्ञान का बाजा चला तब इसका प्रवेश हो सका।

हम आपका अधिक उपकारी शरणभूत, सारभूत सर्वस्व यह श्रुतज्ञान है जिसकी ओर अज्ञानियों की दृष्टि नहीं हो सकती। ज्ञानी पुरुष की श्रुतज्ञान का यह महत्त्व जान सकता हैं कि हमको एकमात्र आलम्बन तो इस श्रुतज्ञान का है। जैसे अंधे का कोड़ हाथ पकड़कर प्रेरणा देकर इष्ट साधनों में ले जाये ऐसा यदि कुछ है तो वह श्रुतज्ञान है। वैसे भी हम किसी भी चिन्ता में हों, रंज में हों, शोक में हों तब भी हमारा रक्षक केवल हमारा ही ज्ञान बनता है। कोई दूसरा चाहे जितना हमारे शोक को मिटाना चाहे तो वह मिटाने में समर्थ नहीं होता। वह शोक मिटाता है तो केवल हमारे ही ज्ञान से। इसलिए मोक्षमार्ग में चलने के लिए यह श्रुतज्ञान बहुत महत्त्व का है। हम आपको इसकी ओर ज्यादा दृष्टि रखना चाहिए। और इसे हम अर्जित कर सकते हैं। बाह्यपदार्थ में हम कमा सकें यह हमारे आधीन बात नहीं है। वे तो उदयानुसार भवतव्य के अनुसार प्राप्त होते हैं। पर यह हमारी ही बात हमारी ही चीज यद्यपि यह भी भवतव्य की बात है लेकिन इस पर हमारा

अधिकार नहीं है। हम रुचि करें, अपने आपको अपने स्वरूप को जानना चाहें तो इसमें कुछ बाधा देने वाला अन्य पदार्थ नहीं है। हम ही खुद विषय कषाय के लोलुपी बनकर स्वयं बाधक बन जाते हैं। दूसरा कोई हमारे ज्ञानपथ में बाधक बन ही नहीं सकता। पर हम चाहें तब ना। एकत्व 'रमति' अधिकार में लिखा है पद्मनंदी स्वामी ने कि जिसके मन में धर्म की कथा भी सुनने की रुचि जगे वह निश्चय ही भव्य है और भावी काल में निर्वाण पायगा। धर्म की रुचि होना ही एक कठिन बात है। उसके बाद फिर सारी बातें बन सकती हैं। इस मायामय चमत्कारों से भरे हुए संसार में जहाँ प्रत्येक मनुष्य विषय सुखों के लिए होड़ मचाये हुए हैं, ऐसे इस भयानक इन्द्रजालवत् संसार में धर्म की रुचि भीतर में कहाँसे जगे, उसे और कुछ न सुहाये। जिसे देखकर प्रायः लोग अचरज करते कि इसके दिमाग में क्या हो गया? जैसे कितने ही पुरुष अथवा कितनी ही कन्यायें इस बात की धुन में लग जाती हैं कि हमें विवाद नहीं करना है, हमें किसी के आधीन नहीं बना है। और वे ऐसी दृढ़ता से ही जाती कि माँ बाप सब परेशान हो जाते समझाते-समझाते। दूसरे लोग भी बहुत-बहुत समझाते पर वे कन्यायें किसी की नहीं सुनती। लोग अचरज में पड़ जाते कि इसके क्या हो गया है? अरे हो क्या गया है? उसको केवल धर्म की धुन हुई है। धर्म में इतनी तीव्र रुचि हुई है कि उन्हें अन्य लौकिक सुख नहीं सुहाते। तो धर्मवाणी सुनने की जिसकी रुचि हुई है वह पुरुष भव्य है, होनहार है। वह निर्वाण का पात्र है। हम आपको ऐसी रुचि बनानी चाहिए कि जिसके सामने ये वैभव सम्पदा न कुछ प्रतीत होने लगे।

हम आप सबका सहारा एक तत्त्वज्ञान है, आत्मज्ञान है। वह श्रुतज्ञानरूपी जल अमृत की तरह है। उसे हमें इस कर्ण पात्र से पी लेना चाहिए, अर्थात् हम तत्त्व की बात सुनें, तत्त्व की बात बोलें, तत्त्व का चिंतन करें और उस तत्त्व को अनुभव में उतारने के लिए जनसंसर्ग छोड़ें, एकान्त का वास करें, ध्यान करें, सामायिक करें। अपना मन ऐसा कठोर बना लें कि जिसमें पर का प्रवेश न हो सके। अनेक उपाय करके भी हम तत्त्व का अनुभव करें। यही हम आपके उत्कर्ष का कारण बनेगा। यह श्रुतज्ञान कुतत्त्वरूपी हिरणों के नष्ट करने में पंचवदन की तरह है। पंचवदन नाम है सिंह का। सिंह को 5 वदन वाला कहा है। वह चारों पैरों से और मुख से इन पांचों से जानवरों का आसानी से शिकार करता है इसलिए सिंह का नाम पंचवदन है। तत्त्वाभ्यास खोटे तत्त्व खोटे मत, कुसिद्धान्त रूपी हिरणों को नष्ट करने में यह श्रुतज्ञान सिंह की तरह है, अर्थात् इस श्रुतज्ञान के समक्ष फिर कुतत्त्व ठहर नहीं सकते। और यह श्रुतज्ञान भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग में चलाने के लिए समर्थ है, ले जाने के लिए समर्थ है, मुक्ति का कारण है। अनात्मतत्त्वों से छुटकारा हो जाय तो यह आत्मा स्वयं अपने आप सहज सत्त्व के कारण जैसा कुछ हैसो ही रह जाय, इसके मायने हे मुक्ति। ऐसे मुक्ति पद में ले जाने के समर्थ यह सम्यग्ज्ञान है। यह जान जावें कि मैं यथार्थतः सबसे निराला केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ। पहिले अपनी कैवल्य का विश्वास तो करें फिर कैवल्य प्रकट हो सकता है। कोई अपने को सबमें मिला-जुला अनुभव करे, मैं इस जाति कुल का, इस पोजीशन वाला हूँ, तो वह चाहे समितियों का भी पालन करे साधु भी हो पर उसकी वे सब क्रियायें बेकार हैं। भीतर में पर्याय बुद्धि बनी है जिसके कारण

अब मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ इस तरह की सुधि वह नहीं ले पाता है। ऐसी पर्यायबुद्धि बन गयी हो तो उसने कैवल्य की श्रद्धा कहाँकर पायी? और जब कैवल्य की श्रद्धा ही नहीं है तो कैवल्य का विकास, कैवल्यपद की प्राप्ति हो कहाँसे? तो यह तत्त्वज्ञान यह सहज अंतस्तत्त्व का बोध यह श्रुतज्ञान जीवों को मोक्ष में ले जाने के लिए समर्थ है। ऐसे सिद्धान्तरूपी समुद्र के जल को हे गुणीजनों ! तुम कर्णरूपी अंजुलियों से पान करो। जैसे जल मिल जाय तो अंजुलियों में भरकर खूब पान करना चाहिए, इसी प्रकार सिद्धान्तरूपी समुद्र के जल को हे गुणीजनों ! कर्णरूपी अंजुलियों से खूब पान करो।

श्लोक-1620

येनैते निपतन्ति वादिगिरयस्तुष्यन्ति योगीश्वराः,
भव्यायेन विदन्ति निर्वृतिपदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः।
यद्बन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधारभूतं नृणाम्,
तल्लोकद्वयशुद्धिदं जिनवचः पुष्या द्ववेकश्रियम्॥1620॥

ये जिनवचन आप सबको विवेक की श्री का पोषण करें। आचार्यदेव कह रहे हैं कि विवेकश्री का पोषण करने वाले चूंकि जिनवचन हैं अतः ये जिनवचन सब प्राणियों में विवेकश्री को पुष्ट करें। जिनवचनों के द्वारा ये बड़े-बड़े पर्वत गिर जाते हैं। ये जिनेन्द्रदेव कैसे हैं कि ये जो छुद्रवादी पुरुष हैं उनके शासन को जीता है। कुमति नहीं कह सकते। जिसे वस्तु तत्त्व दृष्टि में आ गया है उसके लिए छोटा वचन भी पूरा प्रकाश ला देता है और जिसकी दृष्टि में वह तत्त्व नहीं आया है तो बड़े-बड़े समझाने वाले उपदेश और वचन भी उसे मिलें तो भी वह देखता रहता है कि यह क्या कह रहे हैं अथवा उसका उसे पता नहीं रहता। जैसे कि बड़े घने जंगल में किसी तरह छिपा हुआ शिखर आदिक दिख जाय तो उसे झट वह देख सकता है। यह ऐसे कारणों में जिनमें केवल पक्ष ही बना है। इस तरह के पक्ष बने हैं कि जिनके बीच गधा, शेर, खरगोश जैसे चित्र जहाँ खाली जगह है वहाँ वे चित्रित हो जाते हैं पर जिसको मालूम हो जाय कि यह हे चित्र उसको कार्ड देखते ही तुरन्त दिखने लगता है। जिसे उसके विषय में कुछ मालूम नहीं वह तो पेड़ पौधे आदि ही देख पाता है, इनके सिवाय और कुछ उसे विदित नहीं होता। ऐसे ही जिसे अपने स्वरूप का भान हुआ है उसके लिए तो कोई छोटा सा शब्द भी बोला जाय तो उसकी दृष्टि बनाने में साधक बन जाता है। जिस बालक को स्वयं को कुछ तत्त्वबोध नहीं है किन्तु वह भी अपनी तोतली भाषा में वाक्य को पढ़ ले तो वह भी इसकी सुधि दिलाने में कारण बन जाता है। तो जिसको अनुभव जगा है उसको आसानी से जब यह दृष्टि करे तब

वह तत्त्व दिख जाता है। ऐसा वस्तुस्वरूप जिनकी नजर में आया है उनके ज्ञान द्वारा ये सब कुमत, एकान्तमत कोई कैसा ही बहकायें तो वह झट जान जाता है कि ये सब मिथ्या हैं। और उसमें फिर ऐसे वचनों की सामर्थ्य प्रकट होती है कि कोई सिखाने वाला नहीं है तो भी इस शैली से बात बोल देगा जिससे उस कुमत का निराकरण हो। तो ये जिनवचनवादियों के कुमत का खण्डन करने वाले हैं। इन वचनों के द्वारा योगीश्वर प्रसन्न रहते हैं। कोई पुरुष तो लाखों हजारों की सम्पत्ति जुड़ जाने पर प्रसन्न होते हैं पर उनकी प्रसन्नता ठहरती नहीं है, पर ये योगीश्वर इन वचनों के द्वारा ऐसी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं जो अद्वितीय है। जिस धातु से प्रसन्नता शब्द बना है उसका अर्थ हे निर्मलता। मौज मानना यह प्रसन्नता का अर्थ ही नहीं है, सांसारिक मौजों में भी अप्रसन्नता है। मान लो कोई वैभव में कुछ मौज मान ले तो उसके साथ दुःख, रंज, चिंता, घबडाहट, शंका, संदेह ये सब हुआ करते हैं।

एक नीतिग्रन्थ में बताया है कि कोई राजा किसी साधु के सामने से बड़े अभिमान से जा रहा था तो साधु ने कहा या साधु की तरफ से कवि कहता है कि हे राजन् ! तुम क्यों अभिमान करते हो? तुम चाहते हो अर्थ को अर्थात् धन को और हम चाहते हैं शब्दों के अर्थ को, मर्म को। तुम चाहते हो रेशम के वस्त्र तो हम चाहते हैं बलकला। तुम धनार्थी पुरुषों बीच रहने में प्रसन्न रहते हो तो हम शब्दार्थी पुरुषों के बीच में रहकर प्रसन्न रहते हैं। तो साधुजन अपने इस अर्थ के भाव में ज्ञान के अभ्यास में समता में प्रसन्न रहा करते हैं। तो ये जिनवचन योगीश्वरों की प्रसन्नता के कारण हैं और जिनके द्वारा जीव मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं ऐसे इन जिनवचनों की महिमा गायी जा रही है आज्ञाविचय धर्मध्यान में। आज्ञाविचय धर्मध्यान में ज्ञानीपुरुष भगवान की आज्ञा को प्रधान करके तत्त्व का चिन्तन कर रहा है। जिनवचनों की प्रमुखता इसमें बतायी जा रही है। इन जिनवचनों को सुनकर पंडितजन संसार के मोह को छोड़ देते हैं। इन जिनवचनों से भेदविज्ञान की बात मिलती है। हम अपने आपमें अपने स्वरूप को खोज निकालते हैं। तो ये श्रुतज्ञान के वचनमोह को छुड़ाने में समर्थ हैं। ये जिनवचन संयमी मुनियों का संयम बढ़ाने वाले हैं, हितरूप हैं। ये श्रुतज्ञान के वचन पुरुषों के अविनाशी सुख के आधारभूत हैं। अपने आपमें अपने स्वरूप में बसे हुए आनन्द का जो अनुभव करा दे वह ज्ञान अविनाशी आनन्द का आधारभूत ही तो होता है। यों इस भव में और परभव में एक बड़ी प्रसन्नता को प्रदान करने वाला यह जिनेन्द्र वचन है। सो ये जिनवचन भव्य जीवों के विवेकश्री को प्राप्त करें, ऐसा आचार्यदेव आशीर्वाद देते हैं। आत्मकल्याण में तत्त्वज्ञान की बड़ी महिमा है। जितने भी श्रावकधर्म के कार्य किए जाते हैं वे सब इस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं। ये समस्त बाह्य व्यवहारधर्म इसी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए है। ये जिनवचन हमारा हित करने हेतु है, इसलिए ये जिनवचन हम आप सबकी विवेक शोभा को पुष्ट करें। अब इस अधिकार में अंतिम श्लोक में उपसंहार कर रहे हैं।

श्लोक-1621

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत्।

यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुङ्गवैः॥1621॥

जिस ध्यान में सर्वज्ञदेव की आज्ञा को प्रधान करके पदार्थ का चिन्तन किया जाता है उसे मुनिजनों ने आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान कहा है। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को प्रधान करके जो तत्त्व का चिन्तन होता है उसे आज्ञाविचय कहते हैं। यद्यपि इस ध्यान में कोई श्रोतापन नहीं है, नाना वाक्य प्रमाण वाली बात नहीं है कि भगवान ने कहा इसलिए मानें इसलिए करें। वह ज्ञानी जीव परीक्षा वाला और परीक्षा कर करके तत्त्व को मान रहा है, मगर साथ में चूंकि यह जिनवचनों से ही प्रारम्भ हुआ करता है, इस पात्रता में आया है, अतः तत्त्वचिन्तन के समय भगवानके उपदेश को न भूलना, उनका परम उपकार मानना और वाक्यप्रमाण है, इस प्रकार की आज्ञाप्रधान मानकर इस तत्त्वचिन्तन को करके धर्मध्यान करना है।

श्लोक-1622

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः।

अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः॥1622॥

अब दूसरा धर्मध्यान है अपायविचय। विनाश का चिन्तन करना सो अपायविचय है। कर्मों में रागादिक भावों की मुख्यता है। रागादिक भावों के विनाश का चिन्तन कर सो अपायविचय है, हमें ऐसे कर्मों की खबर तो कुछ है ही नहीं। कर्मपरमाणु दिखते नहीं कर्मों का तो अनुमान है और अनुमान प्रमाण सच्चा होता है। लोग तो अनुमान का अर्थ अंदाजा कहते हैं, पर सिद्धान्त ग्रन्थों में अनुमान को प्रमाण माना गया है। निःसन्देह अनुमान प्रमाण है। कर्मों में हेतु और साध्य जो होते हैं उनके अविनाभाव का तर्क द्वारानिश्चय हो सके तब तर्क जोड़ें। अनुमान प्रमाण से हम कर्मों की सत्ता जानते हैं। कर्मों के जीव में जो विभावपरिणमन हो रहा है वह विभावपरिणमन किसी पर सम्बंध बिना नहीं हो सकता। यदि विजातीय आरम्भ के सम्बंध बिना हो जाय तो आत्मा में ये रागादिक सदाकाल रहना चाहिए, क्योंकि उपाधि के बिना, निमित्त के बिना हुए हैं। अपने आपके अस्तित्व के कारण हुए हैं, किन्तु रागादिक भाव सदाकाल रहते हों ऐसा ज्ञात नहीं होता। दूसरी बात यह है कि यदि परद्रव्य के सन्निधान बिना रागादिक विभावपरिणमन हुए तो ये रागादिक विभावपरिणमन

न होना चाहिए। कभी कम हों, कभी ज्यादा हों, कभी बदला करते हों, तो यह बात न होनी चाहिए। यदि परद्रव्यों के सन्निधान बिना ये रागादिक नहीं हुए तो फिर आत्मा के अस्तित्व से सदा ये उठे हुए हैं। जैसे केवलज्ञान में विषमता नहीं है क्योंकि केवलज्ञान आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न होता है अतएव वह ज्ञान सम परिणमन है और केवलज्ञान इतना सम परिणमन है कि उसमें यह भाव भी नहीं टाला जा सकता कि भगवान के ज्ञान का परिणमन इस प्रकार होता है कि जिस चीज को वह अभी वर्तमान पर्यायरूपसे जान रहा था तो अगले समय में उसे भेदपर्याय से जान गये। और जिसे भविष्य पर्यायरूप से जान रहे थे उसे वर्तमान पर्याय रूप से जान गए। इतना विकल्प ऐसा भेद ऐसा परिवर्तन केवलज्ञान में नहीं है। इतना समपरिणमन है। वहाँ तो समस्त पर्यायें एक साथ झलकती हैं और वे सब पर्यायें जिस क्रम से हैं हुई होंगी उस क्रम की रचना में पड़ा हो तो झलके, किन्तु उनके ज्ञान में यह विकल्प न पड़ेगा कि यह भूतपर्याय है यह वर्तमान है यह भविष्य है। अथवा उनके ज्ञान का परिणमन परिवर्तन पर्याय के कारण न होगा कि अब इस तरह से उसका उत्पाद है व्यय है, इतना श्रम परिणमन केवलज्ञान का। तो जो निरुपाधि परिणमन है, स्वभावपरिणमन है वह परिणमन सदाकाल रहता है और सम हुआ करता है। लेकिन ये रागादिक भाव न तो सदाकाल होते हैं और न समपरिणमन हैं अतएव यह रागादिक भावरूप जो हेतु है वह कर्मों की सत्ता सिद्ध करता है। कम है अन्यथा याने विनाशीक और विषम। रागादिक परिणमन नहीं हो सकता था। इस देह के द्वारा कर्मों का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है, लेकिन हम कर्मों को अनुमान प्रमाण के बिना अन्य प्रकार इस समय नहीं जानते।

अवधिज्ञानी पुरुष कर्मों के सत्त्व को स्पष्ट अवधिज्ञान के बल से जान लेता है, किन्तु उत्कृष्ट विशिष्ट अवधिज्ञानी पुरुष जानता है और उस अवधिज्ञान की ही सीमा में वातावरण में कर्मों के प्रमेय और उपशम को भी जान लेता है, जैसे—अवधिज्ञानी पुरुष उदयागत कर्मों को जान सकता है। उदयागत कर्म हैं, वे अस्तित्वरूप हैं, विधिरूप हैं, उन्हें जान लेता है तो उन्हें साक्षात् जान लेता है अवधिज्ञानी। लेकिन कर्मों के उपशम और क्षयोपशम से एक तात्कालिक हेतुरूप वृत्ति है, किन्तु उपशम और क्षयोपशम से उत्पन्न हुई जो अवस्था है वह अवस्था चूंकि पौद्गलिक नहीं है और अवधिज्ञान पौद्गलिक को ही जानता है तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हुआ औपशमिक सम्यक्त्व है। जो प्रमाण हों उनको अनुमान जानता है। जो कम पौद्गलिक हैं और पौद्गलिक कर्मों की जो अवस्था है उस अवस्था को ज्ञानी जान लेगा। क्षायोपशमिक अवस्था है तो चूंकि कर्म सद्भावरूप में हैं तो उसे जान लेगा, लेकिन कर्मों के उपशम और क्षयोपशम का निमित्त पाकर जो आत्मा में औपशमिक और क्षायोपशमिक स्थिति हुई उसे अनुमान जानता है क्योंकि औपशमिक और क्षायोपशमिक का भाव अमूर्त है। प्रयोजन यह है कि कर्मों को जब हम जानते ही नहीं और परपदार्थों में हमारे सोचने से उनका विनाश नहीं, हम उन पर कुछ अधिकार नहीं रखते तो कर्मों का विनाश हो, ऐसा चिन्तन अपायविचयी मुख्य न मानकर रागादिक भावों का विनाश हो ऐसा चिन्तन चलता है। कर्म

यद्यपि पौद्गलिक हैं और रागादिक भाव पुद्गल की अवस्था नहीं, आत्मा की विभाव अवस्था है इस कारण रागादिक भाव कर्मों से भी अधिक सूक्ष्म हैं। लेकिन रागादिकभाव हैं आत्मा के परिणमन, इस कारण उनका तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष चलता है लेकिन कर्मों का परिज्ञान प्रत्यक्षरूप से नहीं होता।

रागादिक भावों का जो प्रत्यक्षज्ञान हुआ वह स्वसम्वेद्यरूप प्रत्यक्षज्ञान है, पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। जैसे केवलज्ञानी पुरुष धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य को प्रत्यक्ष जानता है इस तरह हम रागादिक भावों को प्रत्यक्ष नहीं जानते, किन्तु स्वसम्वेद्य को पद्धति से प्रत्यक्ष जानते हैं। जैसे किसी चीज को हाथ में धरकर 'यह' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं ना। 'यह'घड़ी है तो 'यह'शब्द का प्रयोग होता है प्रत्यक्ष की चीज में और वह उस शब्द का प्रयोग होता है परोक्ष की चीज में। तो जब तक हम रागादिक भावों में बाहर हुए, इन रागादिक का विनाश हुआ, इस प्रकार जब तक हम 'यह' इस शब्द का प्रयोग न कर सकेंगे तो रागादिकभाव हमारे सुसम्वेदन में आते हैं और हम उसे सुसम्वेद्य के प्रत्यक्ष पाते हैं, उनका चिन्तन करते कि ये नष्ट हों, दूर हों, ये मेरी बरबादी के कारण हैं। इस प्रकार के चिन्तन करने का नाम है अपायविचय धर्मध्यान, इसका दूसरा नाम उपायविचय भी कह सकते। मोक्षमार्ग में उपायभूत जो निवृत्ति तत्त्व है उसका चिन्तन होना सो अपायविचय धर्मध्यान है। जो भी उपाय है मोक्ष में लगने का है। यहाँ एक प्रत्यक्ष का प्रसंग चलाया है, और जिसमें 'यह'प्रयोग करे, इसका विनाश करे, इससे होता है उसका घात। जैसे वैभव में इस शब्द का प्रयोग करते हैं वह हमारे स्वसम्वेदन में आकर प्रत्यक्षीभूत है, उसका उपाय विचारना सो अपायविचय धर्मध्यान है।

श्लोक-1623

श्रीमत्सर्वज्ञ निर्दिष्टं मार्गं रत्नत्रयात्मकम्।

अनासाद्य भवारण्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः॥1623॥

अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि श्रीमान सर्वज्ञदेव निर्दिष्ट सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र न पाकर इस भववन में संसार प्राणी चिरकाल से बरबाद होता चला आ रहा है। अनुमान कर लो अपने आपमें खुद का। हम हैं और जब हैं तो सदाकाल हैं। इस भव का तो हमें पता है कि 40-50 वर्ष से हम किस-किस तरह से हैं और यह हम जो अस्तित्व होने के कारण पहिले भी थे तो पहिले हम किस रूप में थे, इसका अनुमान यह ठीक बैठता है कि जब हम आज एक साधारणरूप में हैं तो इससे पहिले भी हम किसी शरीर में थे। यदि न होते शरीर में तो अब युक्तियाँ चलायें कि यह शरीरवान् बन कैसे गया? न होता यह अशुद्ध तो कल्पना करो कि फिर यह अशुद्ध बन कैसे गया? तो मैं था पहिले, यह जीव

था पहिले और किसी न किसी शरीर में था। अब किस शरीर में हम थे इसको जानने के लिए हम संसार के अनेक शरीरधारियों की ओर दृष्टि करके निर्णय कर लेते हैं। चूंकि ये सब भी आत्मा हैं, इन सबमें भी चित्स्वरूप पाया जाता है। मेरे ही समान ये सब भी चेतने का काम करते हैं। मेरे ही समान ये सब आत्मा हैं। तब मूल में एक स्वरूप वाले ये सब आत्मा हैं और भिन्न-भिन्न शरीरों को लादे हुए फिर रहे हैं। अर्थात् इससे सिद्ध होता है कि यह आत्मा ऐसे-ऐसे विभिन्न शरीरों को लादे हुए इनमें फँसा हुआ रहा करता है। तो हम ऐसे ही शरीरों में से किन्हीं शरीर में रहे होंगे तो वह बरबादी ही तो है। शरीर धरते रहने की स्थिति में अब तक तो इस जीव की पर में दृष्टि रही और देह के पोषण में, विषयों के साधनों में ही इसकी बुद्धि बनी रही। जहाँ बुद्धि दृष्ट पर की ओर है विषयों के साधनों की ओर है तो वह आकुलित है, विह्वल है। उसमें मृगतृष्णा की तरह एक तृष्णा उत्पन्न होती है तो विषयों में वह तृष्णा ऊधम मचाती रहती है, यह इसकी हिंसा है। यह इसके दुःख की बात है। तो यह हालत अब तक रही। इसी मृगतृष्णा के कारण हम आप सब इस प्रकार नष्ट हो रहे हैं। यह अपायविचय धर्मध्यानी ज्ञानीपुरुष आत्मचिन्तन कर रहा है कि इस अज्ञान का विनाश हो तो जीव का कल्याण है। जीव तो बिल्कुल तैयार है, परिपूर्ण है, उसमें कोई अधूरापन नहीं है, ज्ञानानन्दस्वरूप है। यह विकल्प बनाता है इस कारण चिन्ताओं का बोझ लगा है। बाहरी पदार्थों का विकल्प बनाता है तो ये सब विपत्तियाँ इस पर चढ रही हैं। विकल्प है तो व्यर्थ की चीज। जिस घर का आपको ख्याल है उस घर का हमें और दूसरों को विकल्प क्यों नहीं होता? आखिर घर आपसे भी अलग है और हम सबसे भी अलग है, भिन्न प्रदेश है। आत्मा में आत्मा है और स्कंध पुद्गल में घर स्कंध पुद्गल है। फिर आप उस भार से, बोझ से, विकल्प से, चिन्ता से क्यों इतना लदे हैं? ये तो सब व्यर्थ की बातें हैं। हम दूसरे की चिन्ता के विषय को निरखकर झट निर्णय कर लेते हैं कि यह व्यर्थ की बात है, घर में व्यर्थ ममता लगाये हैं। जीव तो शरीर से भी न्यारा है। उसके साथ बन्धन क्या है? तो हमें दूसरे के सम्बंध में यह बात सुगमता से विदित हो जाती है। जैसे किसी के इष्ट का वियोग हो जाय तो वह बहुत रोता है, दुःख मानता है, विकल्प करता है तो हम उसे देखकर उसकी मूर्खता का झट ज्ञान कर लेते कि यह कितना मूर्ख है? जो गुजर गया वह फिर लौटकर आता है क्या, वह कुछ था क्या,? यह जुदा है, वह जुदा है। तो दूसरे की बात को हम बहुत जल्दी जान जाते हैं कि यह मूढ़ता का अज्ञान लादे है, कैसी दृष्टि लगा रखी है? तो ऐसी घटनाओं में जो बात उनकी हम सोचते हैं वही बात हमारे लिए उनकी है। ये अज्ञानमोह मिथ्यात्व रागद्वेष विकल्प दुराशय संकल्प—ये सब हमें बरबादी करने वाले हैं अतएव ये सब हमारे विनाश के कारण हैं। इनके कारण हम आज तक बरबाद होते चले आ रहे हैं।

श्लोक-1624

मज्जनोन्मज्जनं शश्वद्भजन्ति भवसागरे।

वराकाः प्राणिनोऽप्राप्ययानपात्रं जिनेश्वरम्॥1624॥

ये संसार के प्राणी श्रीमान सर्वज्ञदेव के द्वारा बताये गए रत्नस्वरूप माग्न को न पाकर इस संसाररूपी सागर में निरन्तर जन्म और मरण को प्राप्त कर रहे हैं। कभी हर्ष मानते हैं, कभी विषाद करते हैं, इस प्रकार इनका यह जन्म मरण अज्ञान भाव से चल रहा है। इन कायर पुरुषों ने इन बेचारे असहाय आत्माओं ने जिनेश्वरदेव के प्रणीत ज्ञानरूप भाव पात्र को नहीं पाया है इसीलिए संसार में गोते खा रहे हैं। हम आपको इस संसारसागर से तिराने का साधन है श्रुतज्ञान, भावज्ञान, आत्मज्ञान इसको नहीं पाया अभी तक। बाह्य पर ही दृष्टि रही, शरीर पर ही दृष्टि रही, शरीर में ही आत्मबुद्धि की। यह उपयोग यद्यपि स्वयं ज्ञान के आधार में है, ज्ञानरूप है लेकिन इसने अपना मुख ऐसा सामने की ओर बाहर में किया कि एकदम यह अपने से बाहर बन गया। अपने आपकी इसे सुध नहीं रही। देखिये उपयोग स्वयं का ही है, पर उपयोग का झुकाव बाह्य की ओर होने से यह खुद बिल्कुल अंधेरे में हो गया। जैसे यह बैट्री या बिजली स्वयं प्रकाशमय है, मगर मुख उसका बदल जाय तो बाहर में प्रकाश करेगी और अपने आपको अंधेरे में रखेगी। यह स्थिति इस उपयोग की हुई है कि हम उपयोग से अपना सुख अपनी चोंच बाहर में बनाया है सो बाहर की बात का तो यह प्रकाश पा रहा है और अपने आपको इसने अंधेरे में बना लिया। गलती कितनी सी कही जायगी? बिल्कुल थोड़ी, जैसे कोई छोटी बैट्री लिए है थोड़ा सा हाथ बदल दिया। गलती कितनी है मूल में। थोड़ा हाथ यों बदल दिया, लेकिन परिणाम कितना उल्टा निकला कि बाहर को तो प्रकाशित किया और खुद को अंधेरे में रखा। इसी प्रकार भीतर में विकारभाव कहने के लिए बहुत थोड़ा है, मगर इसने सुख कर दिया बाहर की ओर। जान तो अब भी रहा है पर भीतर में एक उन्मुखता का जरा सा प्रवेश किया उसने। फल उसका इतना है कि कभी यह जीव नारकी, कभी पशु-पक्षी बना, जन्ममरण करता, परिणाम इसका खोटा निकला। मूल में गलती कैसी थोड़ी थी? जैसे कोई नौकर या कोई अपने बन्धु-मित्र इष्टजनों पर बहुत बड़ा विश्वास रखता है। कोई काम बहुत ज्यादा बिगड़ जाय खबर न रहने से, उस समय कुछ खबर न रही, जैसे मानो कल की कोई तारीख हो मुकदमा की और तारीख की याद भूल गए और वहाँ मामला विरुद्ध फैसले में आ गया तो मालिक जब पूछता है—कहो भाई क्या हुआ? तो वह कहता है कि जरा तारीख की खबर न रही, बस काम बिगड़ गया। तो ऐसे ही समझिये कि हमने सुनने को तो हमारी जरासी चूक है मूल में, क्या कि इस उपयोग ने अपना मुख बदल दिया पर परिणाम भयानक निकल रहा है कि निगोद में रहे, स्थावरों में गए, ज्ञान का विकास नहीं है, दुःख संक्लेश भोगते हैं, इतना खोटा परिणाम निकला। अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष चिंतन

कर रहा है कि एक इस जिनेश्वर यान पात्र को न पाकर, इस रत्नमय मार्ग को न पाकर, अपने आपका प्रकाश न पाकर यह जीव अभी तक संसार में भ्रमता चला आया है, बरबाद होता चला आ रहा है। यह उपयोग कुछ थोड़ा सा मुख मोड़ले, स्व के उन्मुख हो जाय तो सारे संकट कट जाते हैं। तो यही बात सबकी हुई ऐसा चिन्तन करता है अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष ताकि अनादि से चले आये हुए ये रागादिक बैरी नष्ट हो जायें। यह अपायविचय धर्मध्यानी, आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष धर्मध्यान से कुछ उत्कृष्टता रखता जा रहा है। अब इसमें वैराग्य का अंश कुछ बढ़ा हुआ है। चाहे अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष है वही एक आज्ञाविचय धर्मध्यान से लगा है। उस समय की जो उसकी स्थिति है, उससे विशिष्ट और वैराग्य की ओर रहने वाली स्थिति अपायविचय धर्मध्यान के समय बनती है।

श्लोक-1625

महाव्यसनसप्तार्चि प्रदीप्ते जन्मकानने।

भ्रमताऽद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम्॥1625॥

महान विडम्बनाओंरूप सप्तार्ची से प्रदीप्त इस जन्म वन में भ्रमते हुए उसने आज सम्यग्ज्ञानरूपी सागर का तट प्राप्त किया है। रागद्वेष, संकल्प-विकल्प आदिक ये महाव्यसन हैं, ये सब अग्नि हैं, 7 चीजों की लहरें उठें, तरंगें उठें उसे सप्तार्ची कहते हैं। जैसे अग्नि प्रदीप्त होती है तो उसमें कोई निखर छूटती है। तो रूढि में 7 शब्द बहुत का सूचक है। जैसे किसी को धूर देनी होती तो कहते कि इसके 7 पीढ़ी की धूर दो। जो तुम्हें करना हो सो कर लो। तो जब बहुत को बात देनी होती है तो 7 शब्द का प्रयोग व्यवहार में किया जाता है। तो अग्नि के जब कोई बहुत प्रदीप्त होते हैं तो उसमें कई जगह लपटे शिखरें उठी हैं इसलिए अग्नि का नाम सप्तार्ची रखा गया है। तो महान अग्नि में जलते हुए इस जन्मरूपी वन में भ्रमण करते हुए उसने आज सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्र का तट प्राप्त किया है, विनाश का चिन्तन कर रहे हैं ना तो हम विनाश करने में समर्थ हैं कि नहीं—यह भी चिन्तन में आये तब विनाश का चिन्तन चल सकता है। तो अब ऐसी सामान्य की बात का विचार कर रहा है कि मैं घूमा तो बहुत अब तक लेकिन घूमते हुए मैंने आज यह सम्यग्ज्ञान समुद्र का तट प्राप्त किया है। अब हममें यह सामर्थ्य है कि इस दृष्टि को पाकर हम इन संकटों को दूर कर सकते हैं। जो विनाश कर सकता है उसका चिन्तन तो सही है और जो समर्थ ही नहीं है वह चिन्तन करें तो खानापूति करना है और मान लेते हैं कि मैंने धर्मध्यान किया, हमने आज सम्यग्ज्ञान पाया, वस्तुस्वरूप को बोध किया, हम अपने आत्मतत्त्व का ग्रहण करके उसका आलम्बन लेकर उसकी दृष्टि के बल

से इन रागादिक विभावों को सबको नष्ट कर सकते हैं ऐसा इसमें साहस जगा है और अपायविचय करके अपने धर्मरूप परिणमन कर रहा है।

श्लोक-1626

अद्यापि यदि निर्वेदविवेकागेन्द्रमस्तकात्।

स्खलेत्तदैव जन्मान्ध—कूपपातोऽनिवारितः॥1626॥

ज्ञानी पुरुष अपायविचय धर्मध्यान में ऐसा विचार करता है कि मैंने बहुत-बहुत भ्रमण कर चुकने के बाद आज तक उत्कृष्ट भव पाया है, श्रेष्ठ समागम मिला है, अहिंसामयी जैनशासन प्राप्त हुआ है, सम्यग्ज्ञान भी प्राप्त कर लिया है। यदि अब भी वैराग्य और विवेकरूपी पर्वत की शिखर से गिर पड़े तो संसाररूप अंधकूप में ही पड़ना होगा। इस समय हम आपने जो स्थिति पायी है वह अपेक्षाकृत बहुत संतोष के योग्य है। जैसे अनन्तानन्त जीव तो अब भी निगोद में पड़े हुए है। एक श्वास में 18 बार जन्म-मरण किया, वहाँ से निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति कायक जीव हुए, वहाँ से निकलकर दोइन्द्रिय हुए, फिर तीन इन्द्रिय हुए, चार इन्द्रिय हुए इस तरह उत्तरोत्तर इस जीव ने विकास प्राप्त किया। दो इन्द्रिय में स्पर्शन और रसना इन्द्रिय प्राप्त हुई, तीन इन्द्रिय में घ्राणइन्द्रिय और चार इन्द्रिय में चक्षुइन्द्रिय ये और भी प्राप्त हो गए। पञ्चेन्द्रिय में कर्णइन्द्रिय भी प्राप्त हो गयी। फिर मन का क्षयोपशम मिला तो मन से जानने लगा। मन वाले नारकी जीव हैं, वे बड़े संकट में हैं। देवगति के जीव वे अपने ऐश-आराम में मस्त हैं। पशु पक्षी भी विवेकशून्य हैं। यह मनुष्यभव सबमें से श्रेष्ठ है। हम इस मनुष्यभव में हैं। इस भव में अपने मन की बात को दूसरों को समझा सकते और दूसरों के मन की बात को हम समझ सकते। तत्त्वज्ञान की बात सुनते व समझते हैं। इतना सुनकर भी यदि विवेक से च्युत हो गए, परदृष्टि में बने रहे तो फल यह होगा कि संसार के अंधकूप में पड़ना ही होगा। चीज तो इतनी अच्छी प्राप्त है और मनुष्य के चित्त में इतनी तृष्णा लगी है सो उस तृष्णा के कारण मिले-मिलाये वैभव से भी लाभ नहीं होता। जैसे कोई लखपति आदमी है और उसके तृष्णा लगी है तो उस तृष्णा के कारण जो पास में धन है उसका भी सुख न पायगा। ऐसे ही हम आपको बहुत समागम मिले हैं, कोई प्रकार की तकलीफ नहीं है, धर्मात्मा, त्यागी, विद्वान, ज्ञानी पुरुष भी बहुत-बहुत मिल रहे हैं तो सब आनन्द की ही बात है लेकिन जो परिग्रह में तृष्णा लगी है उसकी वजह से यह समझते हैं कि मेरे को कुछ नहीं मिला, अभी इतना और चाहिए। इस तृष्णा में वे अपना जीवन बरबाद कर डालते हैं। तो अब भी यदि न चेते तो ऐसा दुर्लभ अवसर मिलना कठिन है। जो अपने को जीवधारी पञ्चेन्द्रिय दिखते

हैं वे भी अपने मन की बात किसी को नहीं समझा सकते, दूसरे के मन की बात समझ नहीं सकते। बोल भी अक्षरात्मक नहीं है जो कोई साहित्य की बात बोल सकें, अपने मन का अभिप्राय समझा सकें। ये पशु-पक्षी कुछ नहीं कर सकते। मनुष्यों में देखो तो कैसे-कैसे मनुष्य हैं, कोई भिखारी है, दर-दर मांगते हैं तो वे क्या उन्नति करेंगे? उनका बहुत कठिन काम है। और-और परदृष्टि दें तो अन्त में अपनी स्थिति बहुत कुछ अच्छी मालूम पड़ेगी और अपने से धनिकों पर दृष्टि देते हैं तो अपनी तुच्छ स्थिति मालूम पड़ती है और अपने से गरीबों पर औरों पर दृष्टि दें तो सन्तोष होगा। और खूब शक्ति से विचार करें तो जिसे जो कुछ अब भी मिला है वह सब औरों से ज्यादा मिला है। इतना जरूर है कि यदि ऐसा लक्ष्य बन जाय कि हम मनुष्य हुए हैं तो धर्मसाधना के लिए हुए हैं क्योंकि विषयकषायों के लिए तो अन्य पशु-पक्षी आदिक की पर्यायें पड़ी हैं। यह मनुष्य जन्म पाया तो किसलिए? जो बात और जगह न बन सके, मनुष्यभव में ही बन सके वह बात है बड़ी। इतना सन्तोष योग्य श्रेष्ठ भव पाया और उसे विषयकषायों में कोई गवाँ दे तो फिर संसार में रुलना पड़ता है। इससे ऐसे दुर्लभ समागम को पाकर हमें गिरते हुए विचार न बनाना चाहिए, विषयकषायों में घुसने का विचार न बनाना चाहिए। अपनी सावधानी रखें, और जैसे आत्मा की बराबर सुध आये वह काम करें। स्वाध्याय किया, स्वाध्याय सुना, चर्चा की, ज्ञानी पुरुषों के समीप बैठें, जैसे में उपयोग बदलें और अपने आपके आत्मा की ओर दृष्टि जाय वह काम करना चाहिए।

श्लोक-1627

अनादिभ्रमसंभूतं निर्वार्यते मया।

मिथ्यात्वाविरतिप्रायं कर्मबन्धनिबन्धनम्॥1627॥

अपायविचय धर्मध्यान में मिथ्यात्व आदिक वैराग्य के, अपाय के उपाय का चिन्तन करना चाहिए। अनादिकाल से लगी चली आयी हुई अविद्या है, उस अविद्या में अविद्या के कारण मिथ्यात्व, अविरत, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये सब पाप बस रहे हैं और उनके कारण कर्मबन्ध हो रहा है तो ये सब मेरे से किस प्रकार दूर हों उसका चिन्तन होना चाहिए। देखिये सबका कोई न कोई लक्ष्य रहता है। हर एक जीव अपना कोई न कोई लक्ष्य बनाये हुए है। पर प्रायः लोग यह लक्ष्य बनाये हैं कि मेरी जगत में महत्ता बढ़े। इसमें सब आ गया। धनी क्यों बनना चाहते? इसी कारण कि मेरा महत्त्व बढ़े। जो-जो कुछ भी यह मनुष्य करना चाह रहा है सांसारिक बातें, उन सबका मूल में उनका लक्ष्य बना है कि मेरा बड़प्पन बने। यह है लौकिक बड़प्पन। इसी लक्ष्य के कारण इसको अभी तक शान्ति नहीं मिल सकी। क्यों नहीं शान्ति मिल सकी

कि इसने तो जनता से बहुत-बहुत भीख मांग रखा है। मेरा लोक में बड़प्पन बने, इसके मायने यह हैं कि इन अज्ञानी कर्मकलंकित जीवों से यह चाह रहती है कि ये मुझे कुछ अच्छा कह दें तो यह भीख मांगना ही तो है। इस भीख के मांगने से न कोई आजीविका का लाभ है और न धमकी, न परलोक के सुधार का लाभ है। इसने बहुत भीख मांग रखा है, इस कारण इसको शान्ति प्राप्त हो कहाँसे? ? अरे जिन लोगों से अच्छा कहलवाने की भीख मांगी जा रही है वे हैं कौन? वे लोग तो इस मुझको जानते भी नहीं हैं। यहाँ कुछ भी तो तत्त्व नहीं रखा है। और फिर इन मायामयी इन्द्रजालवत् असार जीवों से कुछ चाह करना, ये कोई मेरे प्रभु हैं क्या? यह जितना जीवलोक है ये कोई मेरे प्रभु नहीं हैं, मालिक नहीं है ये, मेरा कुछ भी सुधार नहीं कर सकते। इनसे क्या आशा करें? इनसे क्या चाह करें? लोक में इन लौकिक जनों में बड़प्पन की चाह करना यह अपने आपके परमात्मा पर महान अन्याय लादना है, अपने आपको बरबाद करना है, अपने आपका घात करना है। यह बात सम्यग्ज्ञान के प्रताप से हो सकती है कि मैं कुछ लोगों से न चाहूँ। केवल आवश्यकता है तो यही कि धर्मपालन होता रहे। तो रक्षा करने वाला धर्म ही है। परभव में धर्म ही सहायक है और कुछ नहीं। कभी छोटी-छोटी विपत्तियाँ भी आयें तो उसमें विषाद न मानना चाहिए। क्योंकि यह तो संसार है। यहाँ तो ऐसे अनर्थ ऐसी बातें होती ही रहती हैं, उसका संकट न मानें और कुछ सम्पदा न आये, इष्टजनों का संयोग हो, संतान आदिक ठीक हों लोग आज्ञाकारी हों तो उसमें मौज न मानें, ये सब मिटेंगे, और जब तक है इनका संयोग तब तक भी कष्ट के लिए है, शान्ति के लिए नहीं है। कैसे बन सके शान्ति? कोई परपदार्थ शान्ति का निमित्त भी नहीं बन सकता, क्योंकि जब अपना उपयोग पर की ओर मोड़ा तो परदृष्टि में आकुलता ही बनती है। ऐसा यहाँ का प्राकृतिक नियम है। जब हम अपने आपके आधार को छोड़ दें, अपने मालिक को छोड़ दें और बाहर में कुछ करना पड़े तो उस परिस्थिति में चैन हो ही नहीं सकती। आकुलता ही मची रहेगी, पर की ओर आकर्षण होता है, पर का हम आलम्बन लेते हैं। दूसरों को हम राजी रखना चाहें, दूसरों से हम अपने बारे में कुछ चाहते हैं—ये सारे विकल्प हमारे बैरी हैं अन्यथा हमारा तो ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, कमी कुछ न रहेगी। आत्मासो परमात्मा, इसका मतलब क्या है कि जो परमात्मा का स्वरूप है, प्रकट हुआ है वैसा स्वरूप हमारे अन्दर है। इसमें वैसी ही शक्ति है। सभी का स्वरूप एक सा है। बाद के विकल्पों से, उपाधि से भेद पड़ गए हैं पर रचना सबके स्वरूप की एक प्रकार की है। सभी चिदानन्दस्वरूप हैं। हम आप सबका एक चैतन्यमात्र है। जिन बातों से अन्तर पड़ा है हम उन बातों को दूर करने का प्रयत्न करें। तो यह अनादिकाल की अविद्या लगी है उससे ये मिथ्यात्व पाप आदिक परिणाम पैदा होते हैं जो कि हमारी बरबादी के लिए हैं। ये सब परिणाम मुझसे दूर हों और मैं अपने सहजस्वरूप का अवलोकन करता रहूँ ऐसा यह अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष चिन्तन करता है।

श्लोक-1628

सोऽहं सिद्धः प्रसिद्धात्मा दृग्बोधविमलेक्षणः।

जन्मपङ्के चिरं खिन्नः खण्ड्यमानः स्वकर्मणा॥1628॥

ज्ञानी पुरुष अपने आपके बारे में ऐसा चिन्तन करता है कि यह मैं आत्मा सिद्ध हूँ। सिद्ध के मायने अपने स्वरूप से परिपूर्ण हूँ, अपने स्वरूप को लिए हुए हूँ, सहज सिद्ध हूँ, स्वतः सिद्ध हूँ, भरा पूरा हूँ। इसमें कोई भी वस्तु अधूरी होती ही नहीं, स्वरूप ही नहीं है। अधूरे का अस्तित्व क्या? जो है वह पूरा है। जैसे कि लोकव्यवहार में कह देते कि यह मकान अधूरा है इसको अभी आधा और बनवाना है इस तरह से आत्मा अधूरा नहीं है। यही बात सभी पदार्थों की है। सभी पदार्थ स्वतः सिद्ध हैं, परिपूर्ण हैं। इनका स्वरूप है चिदानन्दस्वरूप, सो हम आधे बनें, आधे न बनें ऐसा नहीं है। वैसे जो अभी दृष्टान्त दिया कि यह मकान अधूरा है सो मकान कोई एक पदार्थ नहीं है वह तो यह बताने के लिए कि लोग इसे आधी चीज मानते हैं, इस तरह का कहीं पदार्थ में आधापन नहीं है। मकान में भी आधापन नहीं, मकान कोई पदार्थ नहीं है। उसमें रहने वाले जो अणु हैं वे पदार्थ हैं और वे सब परिपूर्ण हैं चाहे किसी रूप परिणमे। तो यह मैं आत्मा सिद्ध हूँ, परिपूर्ण हूँ, स्वतः सिद्ध हूँ। जिसका स्वरूप सिद्ध है प्रसिद्ध स्वरूप, क्या है वह प्रसिद्ध स्वरूप? दर्शन ज्ञान ही हैं निर्मल नेत्र जिसके ऐसा। ये खम्भे हैं, यह चबूतरे की जमीन है, और इसमें कुछ पार्क है कि नहीं, इनमें जानना देखनानहीं है, न ज्ञानदर्शन है, और सब कुछ समझते हैं। अभी कोई पुरुष किसी जीव को लाठी मार रहा हो कुत्ते को, बैल को, गाय को, भैंस को तो देखने वाले लोग दया करके कहते हैं कि भाई क्यों मारते हो? और कोई आदमी चबूतरे पर होकुछ लाठी ठनका रहा हो तो कोई आकर यह कहता कि भाई तुम चबूतरे पर लाठी क्यों मारते हो? इस मारने वाले को भीतर में इतना ज्ञान तो है ही कि चबूतरे में ज्ञानदर्शन नहीं, और यह जीव इनको जानता देखता है, इनको दुःख होता है। दुःख-सुख कुछ नहीं है, ऐसा बोध है तब तो चबूतरे को पीटने से कोई नहीं रोकता। और जीव का लक्षण है वह प्रसिद्ध है, सब लोग जानते हैं। थोड़ा-थोड़ा सभी को बोध है कि जीव का यह स्वरूप है। सो यह मैं आत्मा दर्शन ज्ञानरूपी निर्मल नेत्र वाला हूँ।

स्वरूप को देखो तो सब कुछ मामला तैयार है। कोई कमी नहीं है। अभी विकल्प छोड़ें और अभी आनन्द लूट लें। कुछ देर ही नहीं लगती। इतना तैयार बैठा हुआ है हम आप सबका आत्मा। आनन्दमग्न रहने के लिए दृष्टि बदल लें अपनी, अपनी ओर उन्मुख कर लें, भ्रम मिटा लें, तुरन्त आनन्द मिल जायगा। और तुरन्त ज्ञानानुभव होगा। तो ऐसे तैयार तो हम हैं, ऐसे उत्कृष्ट निधन तो हम हैं, पर चिरकाल से अपनी ही करतूत से, अपने ही अपराध से इस जन्म-मरण रूपी कीचड़ में चिरकाल से खेदखिन्न हो रहा है। कैसा

तो स्वरूप है और कैसी इसकी दशा बन रही है? परमात्मतत्त्व का स्वरूप है हम आपका आनन्दमग्नता का, पर इसका खण्डन हो रहा है, दुःखी हो रहे हैं, घबड़ा रहे हैं, विकल्पों से अपने आपको परेशान किए जा रहे हैं। मैं भी इस संसार कीचड़ में अपने उपार्जित कर्मों के कारण खण्डित हो-होकर घूम रहा हूँ। खण्डन हो रहा है अपने ज्ञान और आनन्द का। हम जिस किसी भी पदार्थ को जान पाते हैं, थोड़ा जान पाते हैं। ज्ञान का काम है स्पष्ट एक साथ सारे विश्व को जान ले। इतना तो महान केवल ज्ञानरूप मेरा स्वरूप है पर खंड-खंडरूप हो रहा है। मैं अंश-अंश रूप में जान पाता हूँ और आनन्द भी खण्डित हो रहा है। स्वरूप तो इसका ऐसा है कि यह अनुकूल रहे, किसी प्रकार का क्लेश न रहे, कोई दुःख न आये, मगर वर्तमान पर्याय देखो क्या बन रही है—चिन्ता, शोक, दुःख, विकल्प। अपने आपको इस व्यावहारिक जाल में फंसाये हैं, केन्द्रित किए हैं सो आनन्द का घात हो रहा है। किसी भी विषय में हम दृष्टि फंसाये, किसी भी विषय का हम स्वाद लें तो हमारा आनन्द खण्डित हो जाता है, एक थोड़े से मौज के रूप में रह पाता है और बिगड़ जाता है। तो मैं अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप वाला हूँ पर परिस्थिति यह बन रही है कि मेरे ज्ञान का भी खण्डन है और मेरे आनन्द का भी खण्डन है। तो मैं ऐसा खण्डित हुआ इस जन्म जरा मरण रूप कीचड़ में अनन्त काल से खेदखिन्न हो रहा हूँ ऐसा ज्ञानी पुरुष अपने बारे में चिन्तन कर रहा है। देखिये जब-जब लगाव रहेगा परपदार्थों में तब तक इसको आकुलता रहेगी ही, क्योंकि जिस किसी पर मैं हम अपना उपयोग फंसायेंगे तो वह पर या तो हमें इष्ट जँचेगा या अनिष्ट। जब हम पर का ग्रहण करेंगे तो इष्ट अनिष्ट किसी भी स्थिति में चैन न मिलेगी। अनिष्ट के संयोग में तो आकुलता ही बनी रहती है, चैन कहाँ से मिलेगी और इष्ट के संयोग में उससे अनुराग बढ़ेगा, उसके पीछे बड़े-बड़े श्रम करने होंगे, बड़े-बड़े कष्ट उठाने होंगे, लो वहाँ भी चैन नहीं मिलती। चैन तो तब मिलेगी ज समस्त परपदार्थों को असार जानकर विनाशीक जानकर उन्हें चित्त से हटाया जाय और ज्ञान व आनन्द से भरा हुआ अपना जो स्वरूप है उसकी ओर दृष्टि लगायी जाय।

आप यह कहेंगे कि ऐसा तो मुझे कोई नहीं दिखता जो परपदार्थों को भिन्न जानकर उनकी उपेक्षा करे और अपने स्वरूप के देखते रहने की धुन बनाये। तो पहिला उत्तर यह है कि है पर बिरले ही मनुष्य ऐसे मिलते हैं और फिर उत्तर यह है कि नहीं है तो ठीक है न रहने दो। जो स्वरूपदृष्टि न रखेंगे वे दुःखी रहेंगे और जो अपनी सुध बनायेंगे वे शान्त रहेंगे, ये बाह्यपदार्थ बाह्य समागम सबके सब जबरदस्ती के कारण बनते हैं, अच्छे लग रहे हों तो, बुरे लग रहे हों तो, पर का सम्बंध इस जीव के अहित के लिए ही होता है। आज्ञाविचय धर्मध्यानी ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि ये मेरे सब विभाव ये मेरे सब खण्ड-खण्ड ज्ञान कैसे दूर हों? जो अपने आपके अखण्डस्वरूप का उपयोग बनाये रहूँ, यह उपाय मेरा बने—इस प्रकार का चिन्तन अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष कर रहा है। देखो जहाँ इन मिले हुए समागमों में यह बुद्धि बन रही है कि ये सर्व समागम मेरे अहित के लिए हैं, इनसे मेरे को क्या लाभ है? इन वैभवों से, इन जुटे हुए समागमों से इस मेरे आत्मा का क्या लाभ है? ये सब दूर हों। ऐसी वियोगबुद्धि से यह ज्ञानी पुरुष अपने आपका वास्ता

हटा रहा है और अपने स्वरूप में अपने को लगा रहा है। मैं सिद्ध हूँ, परिपूर्ण हूँ, ज्ञानानन्द रसकर भरा हूँ, मेरा प्रसिद्ध स्वरूप है, सच्चिदानंद है, ऐसा अपने आपके परिपूर्ण स्वरूप का चिंतन करें तो संसार के संकट हटाने का, रत्नत्रय के पालन का इसे अवसर मिलेगा। तो वही धर्म उसकी रक्षा करने वाला है जिस धर्म के लिए इस ज्ञानी ने अपना जीवन माना है, और अपन तो अस शरीर को कायम रखने के लिए मानते हैं। आजीविका करनी तो शरीर की स्थिति बनाने के लिए ही करनी। तो उसे इतनी ही आजीविका से प्रयोजन है जितने में इस जीवन का साधारणतया निर्वाह हो। अधिक नहीं चाहता वह ज्ञानी। बाकी अपना सब कुछ अपने धर्मपालन के लिए लगाना है ऐसा है ज्ञानी पुरुष का कार्यक्रम। विषयकषायों से दूर होकर अपने आपमें लीन होने का उस ज्ञानीपुरुष का प्रयत्न है।

श्लोक-1629

एकतः कर्मणां सैन्यमहमेकस्ततोऽन्यतः।

स्थातव्यमप्रमत्तेन मयास्मिन्नरिसंकटे॥1629॥

ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि इस संसार में एक ओर तो कर्मों की सेना है अर्थात् बहुत जबरदस्त कर्म हैं और एक ओर यह मैं अकेला हूँ तो ऐसी स्थिति में इस शत्रुसमूह के बीच में हमें बड़ा सावधान होकर रहना चाहिए क्योंकि अपनी सुध न रख सकेंगे तो शत्रुसमूह मेरा पतन करेगा। अपायविचय धर्मध्यान में ऐसा चिन्तवन चल रहा है कि मुझे यहाँ बड़ा सावधान रहना चाहिए याने विषय कषायों में हमारा उपयोग न जाय। मेरे उपयोग में मेरा स्वरूप बसे, पंचपरमेष्ठी का स्वरूप बसे जिससे विशुद्धता बढ़े। यदि मैं सावधान न रहूँगा तो मेरे खिलाफ ये समस्त कर्म हैं, मेरे स्वभाव के खुद में निमित्तभूत यह कर्मों का समूह पड़ा है मेरे साथ, यह मुझे बरबाद कर देगा, इससे मुझे अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

श्लोक-1630

निर्द्धूय कर्मसंघातं प्रबलध्यानवहिना।

कदा स्वं शोधयिष्यामि धातुस्थिमिव काञ्चनम्॥1630॥

फिर ऐसा विचार करें कि जैसे मिट्टी में मिला हुआ स्वर्ण अग्नि से शोधने से शुद्ध कर लिया जाता है इसी प्रकार मैं प्रबल क्षमा अग्नि के द्वारा कर्मों के समूह को नष्ट करने में अपने आत्मा को सावधान रखूँगा। आत्मरुचि इतनी बढ़ी है ज्ञानी जीव के कि वह निरन्तर अपने आत्मा की सावधानी का यत्न करता है। भेदविज्ञान की प्रवृत्ति होने से यह आत्मरुचि बनती है। जब तक जीव को अपने इन्द्रिय के किसी साधन से या मन के किसी विषयसाधना से कुछ मौज मानने की बुद्धि रहती है तब तक आत्मा की धुन नहीं बनती। इन 6 विषयों से कुछ भी प्राप्ति रहती है तो आत्महित की रुचि नहीं रहती। जब कभी ऐसी बात आये कि मन नहीं लगता आत्महित में, चित्त नहीं लगता, उपयोग आत्मस्वरूप को ग्रहण नहीं करता, कितना ही प्रयत्न करते हैं पर अपना परमात्मस्वरूप अपनी दृष्टि में नहीं रह पाता तो इसका कारण यह समझना चाहिए कि इन 5 इन्द्रियाँ और छठा मन—इन 6 विषयों में कहीं कुछ रुचि और पड़ी हुई है। स्पर्शन इन्द्रिय के विषयों में रुचि क्या? मोटे रूप से तो यों कहते हैं कि ठंडे-गरम आदिक स्पर्श की रुचि रहना। जो कुछ भी भला लग रहा है इन इन्द्रियों के कारण उसे कठोर रूप से देखा जाय तो वही बरबादी का कारण बन रहा है। कोई इन्द्रियविषय की रुचि पड़ी हुई हो तो आत्महित में चित्त नहीं जमता। रसना इन्द्रिय के विषयों में आसक्त होना, अच्छा-अच्छा स्वादिष्ट खाने-पीने की रुचि करना यदि ये बातें चलती हैं तो इससे आत्महित की रुचि नहीं बनती। इसी प्रकार घ्राणइन्द्रिय के विषय में देखो—लोग कितनी-कितनी तरह के इत्रफुलेल लगाने की बात चित्त में रखते हैं, इन वास सुवास की वासना में भी आत्महित की बात चित्त में नहीं आती। नेत्र इन्द्रिय के विषय में देखो—सिनेमा-थियेटर आदि देखने की बात मन में बनी रहती, सुन्दर-सुन्दर रूप देखने की आकांक्षा बनी रहती, ऐसी हालत में आत्महित की बात कहाँ से आये? यही हाल कर्णेन्द्रिय का है। राग रागिनी की बात सुनने को चित्त बना रहता है, ऐसी स्थिति में आत्महित की बात सुनने की आकांक्षा चित्त में नहीं जमती। आत्महित की धुन नहीं बन पाती। इसी तरह मन का विषय है। इसमें प्रधान विषय यह है कि अपनी नामवरी की चाह होती है। दुनिया में अपना ख्यापन करना, लोग मुझे समझें इस प्रकार की भीतर में जो आकांक्षा है वह आत्महित में प्रबल बाधक है। यों समझिये कि पूरा इस आत्मस्वरूप को ढके हुए परिणाम है। जिनका इन विषयों में परिणाम बना रहता है उसको यह नहीं सूझता कि संसार क्या है और यह मैं पर्याय वाला भी हूँ क्या? ये सब विनाशीक ठाठ हैं, ये लोग भी कर्मों के प्रेरे नाना गतियों में भ्रमण करते हुए आज मनुष्यजीवन में आये हैं। ये भी नष्ट होंगे, इनका भी मरण हो और यह मैं जो मनुष्यभव में आया हूँ इस भव का भी मरण होगा। और मिलेगा कुछ नहीं। यों समझ लीजिए जैसे कहावत है कि सूत न कपास जुलाहा से लट्टमलट्टा। यहाँ तत्त्व की बात बाहर में है कुछ नहीं और उन ही बाह्यपदार्थों से सुख की आशा करके उन ही के पीछे परेशान हो रहे हैं। जो परपदार्थों से कुछ चाह रहे हैं उनको इस आत्मस्वरूप का मर्म कैसे मालूम पड़े? वह ज्ञानी धन्य है जिसने ज्ञानबल से अपने आपके इस प्रकाश को पा लिया है, इस आनन्द को पा लिया है। जिसके कारण अब महत्त्व की, नामवरी की, उसके कोई आकांक्षा नहीं रही है। वह

ज्ञानी चिन्तन करता है कि कब वह क्षण होगा जब मैं प्रबल ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मों का शोधन करूँगा और अपने आत्मा को शुद्ध बनाऊँगा। आत्मशुद्धि में यह ध्यान प्रबल साधक है। जहाँअपने आपकी यह प्रतीति हुई कि यह मैं सहज ज्ञानस्वभावमात्र हूँ अन्य कोई मेरा रूप नहीं, इस मुझ का कोई पहिचाननहार नहीं, इस मुझ सत्य स्वरूप को कोई जानता नहीं। तो किसको क्या बतानाहै? इन्द्रिय और मन से रहित होकर अपने स्वभाव के निकट आकर अपनी रक्षा करना चाहिए। यद्यपि पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से बड़ी विकट समस्या है, मन नहीं लगता, चित्त नहीं जमता। कितनी ही जगह चित्त पहुँचता, फिर-फिर कर विषयों में चित्त जाता है, उसका फल क्या है कि बहुत-बहुत हैरान हो जाते हैं। कर्मों के भार से वे जीव बहुत-बहुत दबे हुए हैं फिर भी इन कर्मों से छूटकर अपना उत्थान करें यह बात चित्त में नहीं आती। अनादिकाल से इस जीव की बरबादी ही रही। फिर भी कल्याण का उपाय किए बिना आत्मा का हित नहीं है। मैं कब प्रबल धर्मध्यानरूपी अग्नि के द्वारा इन कर्मों से छूटूँगा और अपने आत्मा को शुद्ध बनाऊँगा, ऐसा यह अपायविचय धर्मध्यान में ज्ञानीपुरुष चिन्तन कर रहा है।

श्लोक-1631

किमुपेयो ममात्मायं किवा विज्ञानदर्शने।

चरणं वापवर्गाय त्रिभिः सार्द्धं स एव वा॥1631॥

ज्ञानी पुरुष अब ऐसा विचार कर रहा है। प्रश्न करता जाता है, उत्तर लेता जाता है। उपेय क्या है अर्थात् अत्यन्त ग्रहण करने योग्य मूल बात क्या है? उत्तर में यह आया कि यह आत्मा ही उपेय है। किसकी शरण जायें, किससे स्नेह बढ़ायें, किसका हाथ पकड़ें, किससे आशा रखें कि यह मेरा भला कर देगा, उत्थान कर देगा? कोई नहीं है ऐसा जिसकी आशा रखी जाय कि यह मेरा उत्थान कर सके। कहाँजायें? बाह्य में पंचपरमेष्ठी शरण है। तो वे भी इस प्रकार शरण में निमित्त भर बन पाते हैं कि मेरे आत्मा की सुध आये, मेरा परिणाम निज परमात्मतत्त्व में समा जाय, इसलिए परमेष्ठी का गुण स्मरण शरण है, इस कारण शरण माने जाते हैं। साक्षात् तो वे भी कहीं मेरा हाथ पकड़ कर मोक्ष में न बैठायेंगे? किसकी शरण जायें? कौन उपेय है? ज्ञानी पुरुष को अन्तरात्मा का समाधान मिलता है कि यह मेरा आत्मा ही उपेय है अथवा ज्ञानदर्शन ही आत्मा है। अपने आपके आत्मा को किस रूप में ध्याया जाय कि आत्मानुभूति बन सके? पदार्थ का निरखन 4 प्रकार से होता है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। पुद्गल में बैठे तो चारों से पुद्गल का ठीक निर्णय होता है। जैसे द्रव्य से कोई चीज कैसी है? पिण्डरूप। चश्मा कैसा है? अभी दिखा दो ऐसा है पिण्ड

सा है द्रव्यदृष्टि से वह देखो। क्षेत्रदृष्टि से जितना लम्बा, चौड़ा, मोटा जिस प्रकार से आकार को लिए हो पदार्थ वह देखो, कालदृष्टि से पदार्थ की जो वर्तमान परिणति है, क्षेत्र विस्तार की परिणति, गुण की परिणति, जो परिणति है वह परिणति दिख गई, पर्याय दिख गई। और भावदृष्टि से उस पदार्थ में जो स्वभाव बसा है वह देखा गया। इसी प्रकार आत्मा में भी हम इन चारों में से कुछ निरख लेते हैं, द्रव्यदृष्टि में तो गुणपर्याय का पिण्ड देखो। यह द्रव्य दृष्टि में मिला। क्षेत्रदृष्टि से निरखने पर आत्मा जितने विस्तार में है पैरों से लेकर सिर तक उतना हमको क्षेत्र रूप में मिला। कालद्रव्य से आत्मा जैसा प्रदेशों की परिणति में है अब और गुणोंके स्वभाव में है उस रूप में निरखने को मिलता है और इस दृष्टि से आत्मा आत्मस्वरूप आत्मशक्तिरूप है। ज्ञानदर्शन रूप देखने को मिलता है और इसी कारण आत्मा को चार जगह बताया गया है। एक तो तत्त्वों में गिनाया है जीवतत्त्व, अस्तिकाय को गिनाया है जीवास्तिकायतत्त्व, पदार्थ में गिनाया है जीवपदार्थ और एक जीवद्रव्य। इनमें से काल की दृष्टि से तो जीवद्रव्य है क्योंकि यहाँ जीव का अर्थ है जो पर्याय को ग्रहण किया था वह द्रव्य है। तो यह कालदृष्टि से बना जीव पदार्थ शुद्ध दृष्टि से बना, क्योंकि पदार्थ में पिण्डरूप ग्रहण है और क्षेत्र में जीवास्तिकाय बना और भावदृष्टि से जीवास्तिकाय बना। तो जब हम इस जीव को एक लम्बे चौड़े के रूप में ज्ञान करते हैं तो अनुभूति नहीं बनती। जब हम अनेक गुणपर्याय पिण्ड हैं, यह आत्मा ऐसी दृष्टि में लगता है तब भी अनुभूति नहीं बनती। यह अनेक पदार्थों में बसने वाला है, इस प्रकार की मुख्यता से दृष्टि को लेना तब भी अनुभूति नहीं बनती, किन्तु जब हम जीवतत्त्व के रूप में चैतन्यस्वभाव के रूप में सहज ज्ञानदर्शन के रूप में जब हम अपने को ग्रहण करते हैं तो अनुभूति जगती है, इसका कारण यह है कि अनुभव करने वाली चीज है ज्ञान और ज्ञानस्वभाव है जीवतत्त्व। वही ज्ञानस्वभाव ज्ञान के द्वारा ज्ञान में आयें तो ज्ञानानुभूति बनती है और ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है। हम अपने आत्मा का अनुभव करने के लिए इस तरह निरखें कि मैं ज्ञान ही हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, केवल ज्ञानमात्र अपने आपको निरखें, ऐसा ही यत्न करें कि मैं अपने को केवल ज्ञानप्रकाशरूप अनुभव कर सकूँ, तो यही है स्वानुभूति का उपाय।

भैया ! अपने अन्तः सोचिये—उपेय हुआ मेरा आत्मा। तो आत्मा भी किस प्रकार है? केवल ज्ञानदर्शनरूप चैतन्यस्वरूपमात्र। जिस स्वरूप की अनुभूति की मुख्यता देने के लिए सांख्यों ने केवल आत्मा को चैतन्यस्वरूपमात्र माना है, ज्ञानदर्शन से न्यारा माना है। ज्ञानदर्शन को जीव का स्वभाव नहीं माना है सांख्यों ने। ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन कर रहा है कि उपेय क्या चीज है? ग्रहण करने योग्य क्या है? मेरा शरणभूत, मेरा रक्षक कौन है? तो वह अपने आत्मा को ही अपना शरणभूत व रक्षक पाता है। वह आत्मा है ज्ञानदर्शन सामान्यस्वरूप। ज्ञान जो विशेष-विशेष रूप जानता है तद्रूप नहीं, किन्तु सहज ज्ञान हुआ आत्मा का स्वरूप। मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ—इस प्रकार अपने को देखें तो आत्मा ग्रहण में आ सकता है। इस ग्रहण को मुख्य बनाने के लिए सांख्यों ने आत्मा का स्वरूप ज्ञानरूप नहीं माना किन्तु एक चैतन्यमात्र

माना है। और इस ज्ञान को प्रकृति का धर्म माना है, किसी पदार्थ का धर्म नहीं माना। इतना अधिक अन्तर सांख्यों ने इस लोभ से कर दिया है कि मेरे में कोई विकल्प न जगे, ज्ञान की तरंगें भी न उठें। मैं केवल एक निस्तरंग रहूँ, परदृष्टि बनाये रहूँ, लेकिन यह विचार न कर सके वे सांख्य जन कि ज्ञान जो तरंगित है, विकल्परूप है वह ज्ञान की एक विकार दशा है। ज्ञान का शुद्ध परिणमन, ज्ञान की शुद्ध अवस्था निस्तरंग है। यदि अपने आपको ज्ञानदर्शन रूप में निरखें तो आत्मा का अनुभव होगा और स्पष्ट समझ में आयगा कि यह मेरा आत्मा उपादेय है। क्या उपेय है मोक्ष के लिए? उसके उत्तर में समाधान चल रहा है। मोक्ष के लिए चारित्र बताया है। चारित्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान गर्भित हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित स्थिति में सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति होती है। तो चारित्र मायने है अपने आत्मा के स्वरूप में चर्या करना, अत्यन्त स्थिर होना। यह तत्त्व जब तक नहीं बन सकता तब तक आत्मा के इस स्वरूप की दृष्टि नहीं होती, और यह स्वरूप उपयोग में न आये तब तक इस स्वरूप में उपयोग स्थिर हो जाय ऐसा चारित्र नहीं बन सकता, इसलिए चारित्र बताया ऐसा कहने में सब आया अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनों सहित आत्मा ही उपादेय है। अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष इन कर्म शत्रुओं के रागादिक भावों के, विनाश के लिए चिन्तन कर रहा है कि मेरे इन रागादिक विभावों का विनाश कैसे हो जो अनादि वासना से मेरी बरबादी करते चले आ रहे हैं।

श्लोक-1632

कोऽहं ममास्रवः कस्मात्कथं बन्धः क्व निर्जरा।

का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते॥1632॥

यह ज्ञानी पुरुष विचार कर रहा है कि मैं कौन हूँ? कोई आदमी बाहर से अपने घर का दरवाजा खटखटाये, घर के लोग पूछे कौन? तो वह उत्तर देता है—कोई नहीं। उसका अर्थ यह है कि जिसका यह घर है, जिसका जो मालिक है, जो इसका विशुद्ध अधिकारी है, उसके सिवाय दूसरा कोई नहीं। इसी प्रकार मैं कौन हूँ? इसका यदि सही उत्तर सोचा जाय तो यह कहने को मिलेगा कि जो कभी मिट न सके, जो मेरा अभीष्ट सहजस्वरूप है जिसके बिना मेरा अस्तित्व नहीं ऐसा वह मैं कौन हूँ? तो सही समाधान भी लेते जाइये। मैं सहज ज्ञान, दर्शनस्वरूप चैतन्यतत्त्व हूँ, इसका कुछ नाम ही नहीं। मेरा जो स्वरूप है उसका नाम क्या? नाम भी कुछ रख लें तो उसका महत्त्व क्या? क्योंकि जो भी स्वरूप का नाम रखूँगा वह नाम सभी जीवों का पड़ेगा। परमार्थ से जैसा मेरा स्वरूप है, जो मैं आत्मा हूँ उसका यदि नाम धरें

तो सबका वही नाम है। जीव नाम रखें तो जीव सभी का नाम है, आत्मा नाम रखें तो आत्मा सभी का नाम है। यदि एक ही नाम सबका हो जाय मानो सभी का नाम घसीटामल हो जाय तो फिर कौन यह चाहेगा कि इस लोक में मैं अपना नाम बढाऊँ? इस नाम के ही कारण लोग धनिक बनते, लोगों में अपने को अच्छा कहलवाने की चाह करते हैं। इस मुझ आत्मा का तो कुछ नाम ही नहीं है ऐसा नाममात्र इतना शुद्ध तत्त्व मैं हूँ। मेरे में कर्मों का आश्रव क्यों होता है? अब ऐसाचिन्तन ज्ञानी पुरुष कर रहा है। कर्मों के आश्रव के जो उपायहैं, जो कि ग्रन्थों में लिखे हैं, कुछ अपने पूर्व अनुभव से भी सोचें—क्यों कर्मों का आश्रव होता है? तो उसका सीधा समाधान है मोह रागद्वेष रूप जो परिणाम होते हैं उनसे कर्मों का आश्रव होता है। संसार के किसी भी प्राणी से, किसी भी परपदार्थ से मेरा कोई नाता नहीं। अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं सब, मेरे प्रदेशों से अत्यन्त न्यारे हैं, मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में हूँ वे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में हैं। हम अपने ही प्रदेशों में अवस्थित हैं और वे सब अपने ही प्रदेशों में अवस्थित हैं। जिस क्षेत्र में मैं हूँ उस ही क्षेत्र में अत्यन्त अन्य द्रव्य बस रहे हैं। यह मैं आत्मा अपने आपमें अपना अनुभव करता हूँ। मेरा मेरे सिवाय किसी अन्य से कोई सम्बंध नहीं है। सभी पदार्थ मुझसे अत्यन्त पृथक् द्रव्य हैं। लेकिन उनमें से कोई छटनी कर डालना कि यह वैभव मेरा है, यह परिवार मेरा है, ये लोग मेरे हैं, इस प्रकार की छटनी कर डालना यह महाव्यामोह है, अज्ञान है। इसी व्यामोह के कारण कर्मों का आश्रव होता है। यद्यपि कर्मों का आश्रव साधारण रागद्वेष से भी होता है। उस आश्रव की कथनी हम कह रहे हैं और ये आश्रव भविष्य में हमें ही बरबाद करते हैं, ऐसा चिन्तन ज्ञानी पुरुष कर रहा है। कर्मों के आश्रव का कारण बताया है स्नेहभाव, पर का आकर्षण। जहाँस्नेह हुआ कि वही कर्मों का बंध हो गया। जैसे कोई पहलवान शरीर में तेल लगाकर हाथ में तलवार लेकर धूल भरे मैदान में कदली के वृक्षों को काटने का व्यायाम करता है तो उसका सारा शरीर धूल से भर जाता है। वहाँ पूछा जाय कि भाई उसका शरीर धूल से क्यों भरा तो उसका क्या उत्तर होगा? उत्तर यह होगा कि उसने अपने शरीर में तेल लगाया इससे उसका शरीर धूल से भर गया। कोई कहे कि तलवार लेकर उसने कदली के वृक्षों को काटने का व्यापार किया इसलिए उसका शरीर धूल से भर गया, कोई कुछ कहेगा कोई कुछ। पर उसका अन्तिम सही उत्तर यह है कि उसके शरीर में स्नेह अर्थात् तेल लगा था इसलिए धूल से उसका शरीर भर गया। इसी प्रकार से इस संसारी जीव के कर्मों का बंधन स्नेह भाव के कारण होता है। परपदार्थों में स्नेह बुद्धि है इसलिए कर्मों का बंध होता है। ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि कैसे आश्रव होता, कैसे बंध होता जिससे उन उपायों को किया जाय और ये रागादिक शत्रु दूर हो जायें। और भी चिन्तन करता है कि इन कर्मों की निर्जरा किस कारण से होती है? स्नेह न रहे तो ये कर्म झड़ जायें। जैसे स्नेह न रहे, तेल उस पहलवान के शरीर में न लगा रहे तो उसके शरीर में धूल का बंध न हो, ऐसे ही मेरे में यह स्नेहभाव न रहे तो कर्मों का बंध न हो। स्नेह न रहे, केवल ज्ञानमात्र यह जाय यह उपयोग तो ये कर्म झड़ जायेंगे। यही निर्जरा का उपाय है। और भी वह ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि मोक्ष क्या वस्तु है? तो मोक्ष

समस्त अनात्मतत्त्वों से छुटकारा पाने का नाम है। केवल में रह जाऊँ, कैवल्य प्राप्त हो जाय, अपने आपकी श्रद्धा बने कि मैं केवल यह हूँ और उस ही कैवल्य को उपयोग में ले तो कैवल्य प्रकट हो सकता है। उसी के मायने मुक्ति हैं। और यह चिन्तन भी कर रहा है कि मुक्त होने पर आत्मा का क्या स्वरूप रह जाता है? विशुद्ध ज्ञान, विशुद्ध दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति ये प्रकट हो जाते हैं और यों एक शब्द में कहो कि कैवल्य प्रकट हो जाता है। आत्मा के अस्तित्व के कारण आत्मा का स्वरूप परिपूर्ण प्रकट हो जाता है। जो था वह प्रकट हो जाता है। इस ही विधि से जानने वाला इस विशाल परमात्मतत्त्व का यह दर्शन करता है, प्रतिभास करता है, अनन्त आनन्द प्रकट होता है जहाँरंचमात्र भी आकुलता नहीं रहती और इन समस्त गुणों के विकास को धारण करने की शक्ति प्रकट हो जाती है जिससे फिर कभी भी इन गुणों का विकास दूर न हो। यों अनन्त चतुष्टय सम्पन्न यह आत्मा रह जाता है मुक्त होने पर। ऐसा अपने स्वरूप का चिन्तन कर रहा है यह अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष। जिससे मुक्ति के उपाय में लगे और रागादिक के अपाय का विचय बने ऐसा उत्कृष्ट ध्यान यह ज्ञानी पुरुष कर रहा है।

श्लोक-1633

जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिकं सुखम्।

अव्याबाधं स्वभावोत्थं केनोपायेन लभ्यते॥1633॥

अपायविचय धर्मध्यान करने वाला ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार कर रहा है कि संसार का प्रतिपक्षी जो मोक्ष है उस मोक्ष का जो अविनाशी आनन्द है वह किस उपाय से प्राप्त होता है। मोक्ष और संसार ये दो ही जीव की अवस्थायें हैं, या संसार में तो क्लेश ही क्लेश है। मानने का सा मौज है और दुःख देखो तो मौज में भी दुःख है। इस संसार में तो दुःख ही दुःख है और मुक्ति में देखो तो आनन्द ही आनन्द है। आत्मा तो आत्मा ही है। आनन्द में बाधा आ रही है कर्मों का निमित्त पाकर। अपना परिणाम सम्हले, कर्मों का निमित्त हटे तो आनन्द ही आनन्द है। दुःख बनावटी है और आनन्द स्वभाविक है। मुक्त अवस्था का जो स्वाभाविक आनन्द है वह आनन्द कैसा होता, इसका विचार कर रहा है ज्ञानी पुरुष। मुक्ति का आनन्द बाधा रहित है स्वभाव से उत्पन्न है। सम्यग्दृष्टि पुरुष को इस मोक्ष के आनन्द में श्रद्धा है नहीं तो मोक्षमार्ग क्या चले मोक्ष में आनन्द है इस बात की जरा भी सुध न हो तो मोक्ष कैसे प्राप्त करेंगे? तो भव्य जीव के सम्बंध में यह भी कहा है कि जिसने रुचि से मोक्ष की कथा भी सुनी वह भव्य है, और भव्य के सम्बंध में निश्चित रूप से यह भी बताया है कि जिसे मोक्ष के आनन्द की श्रद्धा नहीं है वह भव्य नहीं, सम्यग्दृष्टि नहीं। जिसे मुक्ति के आनन्द की श्रद्धा है

वह भव्य है, सम्यग्दृष्टि है, कुछ ही काल में मुक्त होगा। जहाँ तत्त्व के सम्बंध में उल्टी श्रद्धा का वर्णन है, जिस जीव तत्त्व के बारे में अज्ञानी उल्टा श्रद्धान रखता है कि जीव तो है अमूर्तिक, पर ऐसा न जानकर जड़ रूप मान रहा है, यह तो जीवतत्त्व के विषय में उल्टी श्रद्धा है। जीवतत्त्व के बारे में उल्टी श्रद्धा है, देह के नष्ट होने को ही अपना विनाश और देह के उत्पन्न होने को अपनी उत्पत्ति समझता है। मैं मरा, मैं जिया, इस प्रकार की उल्टी श्रद्धा रखता है। कोई श्रद्धान है तो दुःखदायी पर उसे सुखकारी मानता है। रागादिक भाव ये हैं दुःखदायी, मगर इन्हें सुख का साधन मानता है। बंध के बारे में कैसी उल्टी श्रद्धा है कि शुभ बंध हो तो उसके फल में यह चैन मानता और अशुभ बंध हो तो उसके फल में यह क्लेश मानता। बंध में इसने दो विभाव बना डाले—एक सुख मानने का और एक दुःख मानने का। ऐसा ही उल्टा श्रद्धान सम्बर के बारे में है कि सम्बर है सुखदायी, विषयकषायों के विमुख और आत्मस्वभाव के सम्मुख जो परिणाम है वह है सुखदायी, पर उसे दुःखदायी मानता है क्योंकि विषयकषाय में इस मिथ्यादृष्टि जीव की वासना लगी है तो उससे विपरीत है यह सम्बर तत्त्व, इसमें कष्ट समझता है। जैसे बहुत से लोग आनन्द में कष्ट मानते। तो वह निर्जरा में उल्टी श्रद्धा करता है। निर्जरा होती है चाह रखने से। ज्ञानी जीव तो इच्छा के निरोध में आनन्द मानता है, उसे अपना परम कर्तव्य समझता है, पर अज्ञानी जीव इच्छा को नहीं रोक सकता। इच्छा के विरुद्ध कुछ बात घटे तो उसमें संक्लेश करता और इच्छा की पूर्ति के माफिक चीज के मिलने में अपना हित समझता। यह है उल्टी श्रद्धा। और मोक्ष तत्त्व में क्या उल्टी श्रद्धा है इस अज्ञानी को कि वह मोक्ष के आनन्द को वास्तविक आनन्द नहीं मानता, उसे तो सांसारिक चीजें ही रुचिकर लगती हैं। तो प्रकरण में यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी जीव इस प्रकार का ध्यान करता है कि मुझे मुक्ति का आनन्द कैसे प्राप्त हो? कैसे प्राप्त हो यह आचार्य संतों ने बताया है, पर उसकी प्राप्त होगी उस मार्ग पर चलने से। हमें मुक्ति के आनन्द का श्रद्धान चाहिए, ज्ञान चाहिए व आचरण चाहिए। पर्यायदृष्टि से नहीं, पर्यायदृष्टि से तो जीव कर्मबन्धन में पड़ता है। जो आनन्द मुक्त स्वभावरूप है उसकी श्रद्धा करने रूप अपने को तका तो वह आनन्द प्राप्त होगा जिसका पूर्ण विकास मोक्षअवस्था में है। तो मोक्ष का आनन्द बाधारहित है, स्वभाव से उत्पन्न है ऐसा यह ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है और यही चिन्तन उसका धर्मध्यान है।

श्लोक-1634

मय्येव विदिते साक्षाद्विज्ञातं भुवनत्रयम्।

यतोऽहमेव सर्वज्ञः सर्वदर्शी निरञ्जनः॥1634॥

फिर यह ज्ञानी ऐसा चिन्तन करता है कि उस स्वरूप को जानने से मैंने तीनों भुवन जान लिया। परमात्मस्वरूप का परिचय हुआ तो मैंने सब कुछ जान लिया। इसके दो मर्म हैं—एक तो जब स्वरूप का परिचय होता है तो ऐसा सहज विकास होता है कि समस्त विश्व हमारे ज्ञान में झलक जाता है। दूसरा मर्म यह है कि स्वभाव का प्रयोजन क्या है? प्रयोजन तो आनन्द प्राप्ति का है, सो अपने स्वरूप को जानें, उस ही में रमें तो वह सहज आनन्द प्राप्त होता है क्योंकि जो प्रयोजन है, परम इष्ट है उसकी प्राप्ति हो जाती है। ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन कर रहा है कि मैंने अपने स्वरूप को जाना तो समस्त चित् जान लिया यों समझिये। कारण कि यह मैं ही तो सर्वज्ञ हूँ, सर्वदर्शी हूँ, कर्मकलंक आदिक से रहित हूँ। कोई चीज प्रयत्न से कर लें, उसका फल पाने में थोड़ी देर भी हो पर उसका फल मिलना निश्चित है। तो ऐसे विशुद्ध आत्मा के जानने का फल यह है कि यह आत्मा सर्वदृष्टा बने। समस्त विभाव नोकर्म द्रव्यकर्म इन सब कलंकों से मुक्त हो यही है आत्मा के जानने का फल। सो यही रूप मैं आत्मा हूँ तो अब यह निर्णय करना है कि बस मैंने सब कुछ जान लिया। अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष इस प्रकार के चिन्तन में जान ले तो समझो कि वह सर्व विश्व को जानने का उपाय बन चुका।

श्लोक-1635

एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।

एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः॥1635॥

एक भाव सर्वभावों के स्वभावरूप है और समस्तभाव एक भाव के स्वभावरूप है। वह एक भाव कौन? निज ज्ञानतत्त्व। यह ज्ञानतत्त्व भाव ऐसा है कि जिसमें समस्त विश्व के पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं अर्थात् विश्व का यह ज्ञानभाव बन जाता है। ज्ञान ज्ञेयाकार बनता है, अर्थात् ज्ञान का ऐसा स्वभाव है, स्वभाव ही ऐसा है कि जो सत् हो उसे यह ग्रहण कर ले, तो आत्मा का एक ज्ञानभाव ऐसा है कि जहाँसमस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं उन पदार्थों के आकाररूप आत्मा में आनन्द हो जाता है। और ये सब भाव इसके ज्ञानानन्द हैं, ये सभी भाव ज्ञान के कारण बनेंगे। इस कारण यह कहना यथार्थ है कि एक भाव सब भावों के स्वभावरूप है और यह ज्ञान सारे विश्व को स्वभावरूप जानता है। जैसे दर्पण के सामने बीसों चीजें रखी हैं तो वे सभी की सभी चीजें उस दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाती हैं, वह दर्पण नानारूप नहीं बनता है, ऐसे ही एक भाव यह चैतन्यमात्र सर्वभावों के स्वभाव रूप है अर्थात् इसमें समस्त विश्व प्रतिबिम्बित है क्योंकि ज्ञान ही आत्मा है और ज्ञान ज्ञेयाकाररूप होता ही है और गुण ज्ञेयाकार रूप होगा वह आत्मा की जितनी दुनिया में सब सत्

पदार्थ हुए। समस्त सत् पदार्थ रूप होने से इन भावों से आत्मा को कहा है। प्रयोजन यह निकला कि हम अपने स्वभाव को भली प्रकार जानते रहें। उपयोग के मायने तो यह हैं एक आन्तरिक तप। तो मैं हूँ ज्ञानरूप हूँ, ज्ञान ज्ञेयाकार होता। इस ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को हम एक साथ जान लेते हैं। और चूंकि अपने ही ज्ञान से उस ज्ञान को जाना तो उस जानन को निरन्तर बनाये रहते हैं।

श्लोक-1636

यावद्यावच्च संबन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः।

तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिन्स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा॥1636॥

ऐसा ज्ञान-ध्यान करता है यह ज्ञानी जितना-जितना भी सम्बंध मेरा बाह्यपदार्थों के साथ होगा उतना-उतना यह मैं स्थित हो सकता हूँ यह बात क्यों बनेगी? स्वप्न में भी संकट है। देखिये स्वप्न में जैसे बाह्यपदार्थ देखने में आते हैं जंगल देखा, तालाब देखा, रीछ आदि देखा, ये सब देखने में आते हैं तो क्या किया स्वप्न में कि हमने कुछ बाहरी पदार्थों को जाना, ऐसे ही स्वप्न में आत्मपदार्थ को भी जान सकते हैं, क्योंकि इनके जानने का काम है। और बाह्यपदार्थ हमने जान लिया तो अपने आप स्वरूप का ज्ञान ही स्वप्न में किया जा सकता है। हाँ इतनी बात है शुरूवात न होगी। स्वप्न में अपने आत्मा को जानें तो आत्मा का अनुभव स्वप्न में भी हो जाता है, मगर जो सम्बंध बाह्यपदार्थों से लगा हुआ है जितना-जितना सम्बंध लगा हुआ है उतना वह अपने में स्थित नहीं हो सकता। इसके लिए जान जानकर यह प्रयत्न करना चाहिए कि विषयकषायों के साधनभूत परद्रव्यों से हटें, और यह हटता भी है। ऐसी भावना करता हुआ यह ज्ञानी बाह्यपदार्थों से दूर हो रहा है और जितना बाह्यपदार्थों से दूर हो रहा है उतना ही वह अपने आनन्द का लाभ कर रहा है।

श्लोक-1637

तथैवैतेऽनुभूयन्ते पदार्थाः सूत्रसूचिताः।

अतो मार्गेऽत्र लग्नोऽहं प्राप्त एव शिवास्पदम्॥1637॥

यह ज्ञानी पुरुष फिर ऐसा विचार करता है कि चारित्र सूत्र में जो पदार्थ कहे गए हैं वे वैसे ही अनुभव किए जाते हैं और जैसा कहा है वैसा ही किया है। जिनेन्द्रदेव ने जैसा उपकार किया है, पदार्थ का जो-जो स्वरूप बताया है, जिस प्रकार बताया है अनुभव करने पर युक्ति से नीयत करने पर वह सब वैसा का ही वैसा रहता है। जिनेन्द्रदेव ने वस्तु का जो स्वरूप बताया है वह सत्य सिद्ध होता है। और जब मैं जिनेन्द्रदेव के बताये हुए मार्ग में लगा हूँ तो मैंने मोक्ष प्राप्त कर ही लिया ऐसा मैं मानता हूँ। जो सच्चे दिल से बाह्यपदार्थों से अपना हित न मानकर, बाह्यवस्तुओं से रागद्वेष का सम्बंध न बनाकर अपने आपके स्वरूप में जो रमना चाहता है उस पुरुष ने वह मार्ग प्राप्त किया और अनुभव करता है कि मोक्ष अब कितनी दूर है, मोक्ष पा ही लिया है। जैसे कोई किसी नगर को जा रहा हो और चलते-चलते जब बिल्कुल निकट पहुँच जाता है तो यह अनुभव करता है कि अब तो मैंने उस नगर को पा ही लिया, ऐसे ही मोक्षमार्ग का रुचिया ज्ञानी पुरुष जिनेन्द्रदेव के बताये हुए मार्ग में लगा हुआ निरखता है तो यह भाव करता है कि अब तो मेरा मोक्ष हो ही चुका।

श्लोक-1638

इत्युपायो विनिश्चेयो मार्गाच्च्यवनलक्षणः।

कर्मणां च तथापाय उपायश्चात्मसिद्धये॥1638॥

इस प्रकार पूर्वोक्त मार्ग से न उत्पन्न, ऐसा जो उपाय है उसी का ही निश्चय करना है, वैसा ही कर्मों का विनाश निश्चय करना है। इस प्रकार अपायविचय और उपायविचय दोनों का चिन्तन यह ज्ञानी पुरुष कर रहा है। जहाँविनाश का चिन्तन है, रागादिकभाव विनष्ट होते हैं तो आत्मा का शुद्ध स्वरूप विकसित होता है। अपना चैतन्यस्वरूप जानने का उपाय बनाना और उस उपाय की सुधि बनाना यह भी धर्मध्यान है और रागादिकभावों के विनाश की स्थिति सोचना और उस प्रकार विनाश में अपना प्रवर्तन करना सो भी अपायविचय धर्मध्यान है। अपाय और उपाय दोनों एक साथ लगे हैं। तो ये सब बाह्यसाधन समागम बनाना सो उपाय है और दोषों की खबर का चिन्तन करना ऐसा उपाय, ये आत्मसाधन के लिए दोनों बातें करनी पड़ती है। इन रागादिक बैरियों का विनाश कब हो सकता है जब कि अपने आत्मा में विराजमान तत्त्व का अवलोकन किया जाय। जो ध्यान गुणों को ग्रहण करे वह अपायविचय नामक धर्मध्यान है। किसी चीज के विचारने पर किसी तत्त्व का अपाय भी होता है। उपाय और अपाय ये जीव में सर्वथा से लगे हैं, उपेय और उपाय लगा है तो उसका नाम है उपेय और अपाय लगा है तो उसका नाम है उपाय। रागादिक दूर हों,

ज्ञानप्रकाश बने तो उसमें आत्मा की सिद्धि ही है। और जैसे-जैसे उपाय बनता है वैसे ही वैसे अपाय बनता है और जैसे अपाय बनता वैसा उपेय भी बनता। इस उपेय में कोई आशंका करे कि पहिले उपाय बन जायगा कि अपाय, याने ज्ञान का विकास होता उसे निश्चय समझिये और रागादिक भावों का दूर होना इसे अनिश्चय समझिये। तो गुणविकास पहिले होगा? फिर रागादिक भावों का अभाव होगा। रागादिक का अभाव होगा तो आत्मा का लाभ होगा। विचार करने पर दोनों बातें सही हैं और उसमें ऐसी छटनी मानकर मत रहो कि प्रथम उपेय होगा, पीछे अपाय बन सकेगा, थोड़ा-थोड़ा दोनों एक साथ होते हैं। फिर उसमें किसी की दृष्टि मुख्य हो जाय यह बात अलग है। तो आत्मलाभ के लिए ज्ञानी पुरुष उपाय का विचार कर रहा है।

श्लोक-1639

इति नयशतसीमालम्बि निर्द्धूतदोषं,
 च्युतसकलकलङ्कैः कीर्तितं ध्यानमेतत्।
 अविरतमनुपूर्व ध्यायतोऽस्तप्रसादं,
 स्फुरति हृदि विशुद्धे ज्ञानभास्वत्प्रकाशः॥1639॥

आचार्यदेव कह रहे हैं कि पूर्वोक्त प्रकार का अपायविचय धर्मध्यान है, वह सैकड़ों कर्मों को नष्ट करने वाला है। कर्मों का कैसे विनाश हो, रागादिक का कैसे विनाश हो, ज्ञानभाव में जो अस्थिरता चलती है उसका कैसे विनाश हो? यों अलग-अलग दृष्टियों से, अलग-अलग नयों से, अलग-अलग अपायविचय धर्मध्यान में ज्ञान की बात रहती है। कर्म कैसे नष्ट हों इनकी शिखर चलती रहती है। तो सैकड़ों नयों की सीमा का आलम्बन इस बात में बसा हुआ है। जिन्हें नयों का ज्ञान नहीं है वे पदार्थों का यथार्थ निर्णय नहीं कर पाते। तो यह ध्यान कैसा है जो धर्मध्यान सैकड़ों नयों की सीमा का आलम्बन करता है और निर्धूत दोष दोषों से रहित है। इस अपायविचय धर्मध्यान की प्रशंसा कर रहे हैं। यह अंतिम श्लोक है, यह सैकड़ों नयों का आलम्बन करने वाला है, किन्तु शरीर का विनाश तरंगों से चलता है। सूक्ष्म-सूक्ष्म जो ज्ञानभाव उठते हैं। इनकी भांति यों अपायविचय में अनेक कुतत्त्वों का अनात्म तत्त्वों का अपाय विचारा जाता है, उसके लिए अनेक नयों का आलम्बन होता है। इस अपायविचय तत्त्वज्ञानी ने अपने से ऐबों को हटाया है, उसे अपने सर्वकलंक रहित आत्मा का श्रद्धान है। यह तत्त्व श्रद्धानी चिन्तन करता है कि मेरे आत्मा में किसी भी प्रकार का कलंक नहीं है। कलंक होता है विषय और कषायों में। जिस तत्त्वज्ञानी ने अपने विशुद्ध स्वरूप का ध्यान किया है उसके हृदय में निर्मल ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश अवश्य स्फुरायमान होता है। रागादिक भावों से रहित ज्ञानस्वरूप का

ज्ञान करना यह एक निर्मल ज्ञान है। यह आज्ञाविचय धर्मध्यानी पुरुष रागादिक भावों के उपाय का विचार कर रहा है। ये रागादिक भाव जिसके दूर होते हैं उसका ज्ञान पूर्ण प्रकाशित हो जाता है। यह ज्ञान एक तीक्ष्ण शक्तिवाला है किसी घर की कोठरी में तिजोरी के अन्दर कोई पोटली में रखा हुआ कोई कीमती हीरा या कोई भी वस्तु रखी हो तो उसे भी यह ज्ञान यहाँ बैठे ही सुगमता से जान लेता है, उसका ज्ञान करने में भींट, किवाड़ और तिजोरी इत्यादि कुछ भी बाधा नहीं डालते हैं। तो यह ज्ञान अति तीक्ष्ण है, इस निर्मल आत्मा का ध्यान करने से यह ज्ञान प्रकाशित होता है। हमें चाहिए ध्रुव आनन्द, और आत्मस्वभाव का ध्यान करने से यह ध्रुव आनन्द प्रकट होता है। तो यह अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष विचार करता है कि धर्मध्यान में जो भी बाधा देने वाले तत्त्व हैं उनको दूर कर दिया जाय तो कल्याण का मार्ग प्राप्त होगा। धर्मध्यान में बाधा देने वाले हैं रागादिक भाव। इन रागादिक भावों का विनाश करेंगे तो वह धर्मध्यान की अवस्था प्राप्त होगी। यों अपायविचय धर्मध्यानी पुरुष अनात्मतत्त्वों को अपने से दूर करने का चिन्तन कर रहा है।

श्लोक-1640

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः।

प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम्॥1640॥

धर्मध्यान के 4 भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। जिसमें आज्ञाविचय और अपायविचय धर्मध्यान का वर्णन हो चुका है कि भगवान की आज्ञा को प्रधान मानकर वस्तुस्वरूप का चिन्तन करना सो आज्ञाविचय धर्मध्यान है। जो रागादिक विभाव आत्मा को बरबाद कर रहे हैं उसका चिन्तन करना यह कैसे दूर हो, उन उपायों का चिन्तन करना सो अपायविचय धर्मध्यान है। अब यह तीसरा विपाकविचय धर्मध्यान चल रहा है। विपाक का अर्थ है अपने कर्मों के फल का उदय प्राप्त न करना। इसका धर्मध्यान का सम्बंध इसलिए है कि इस ध्यान में न कोई इन्द्रिय के विषय का उपयोग है, न मन के, यश के, प्रशंसा के विषय का उपयोग है। एक धर्मप्रसंग का उपयोग है। इस कारण कर्मफल का विचार करना भी विपाकविचय धर्मध्यान माना गया है। यह विपाक इस संसारी जीव के प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और यह नानारूप है। जीव के साथ कर्म अनादिकाल से लगे चले आ रहे हैं। यद्यपि इनमें ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है कि जीव का रागादिक विभावों का निमित्त पाकर कर्मबन्ध होता है और कर्मों का उदय निमित्त पाकर जीव में रागादिक विभाव होते हैं। यदि पूछा जाय कि बतावो जीव में सबसे पहिले क्या था? तो कहेंगे कि जीव में सबसे पहिले रागादिक पिण्ड था। रागादिक पिण्ड हुए फिर उससे कर्मबन्ध हुआ, फिर रागादिक हुए, फिर

कर्मबन्ध हुआ। तो ये रागादिक भाव सर्वप्रथम किस कारण से हुए? क्या अपने आप हो गए या अपनी सत्ता के कारण हो गए? उससे पहिले कर्म थे जिनके उदय में रागादिक हुए। अर्थात् कोई कहे कि सबसे पहिले कर्म ही मान लो, उसके उदयकाल में रागादिक हुए। फिर उन रागादिकों का निमित्त पाकर ये कर्म बंधे। फिर सिलसिला बन गया, तो यह बतलावो कि सर्वप्रथम जो उनके साथ कर्मबन्धन था वह कैसे हो गया? रागादिक विभाव हुए बिना कर्मबन्ध नहीं होता। तब एक उत्तर क्या मिलेगा? कुछ भी नहीं। यह कहना पड़ेगा कि इनकी संतति अनादिकाल से चली आयी। जैसे आम का पेड़ व उसकी गुठली को ले लो, पहिले आम हुआ कि गुठली? यदि पहिले गुठली हुई तो बिना आम के पेड़ के कैसे बन गया और यदि कहो कि पहिले आम का पेड़ हुआ तो वह आम का पेड़ बिना गुठली के कैसे बन गया? तो यह संतति अनादिकाल से चली आयी। इसी प्रकार यदि पूछे कि कोई पिता ऐसा भी हुआ कि जिसका पिता न रहा हो? तो ऐसा कोई पिता नहीं कि जिसका पिता न रहा हो। कोई पुत्र भी ऐसा नहीं जो बिना पिता का हो। तो यह पिता पुत्र की संतति भी अनादिकाल से चली आयी है। ऐसे ही आत्मा के साथ रागादिक विभाव और कर्मबन्ध ये सब अनादि से चले आये हैं। अब यह प्रश्न होगा कि जो चीज अनादि से चली आयी हो उसका विनाश कैसे होगा? ये रागादिक अगर अनादिकाल से आ रहे हैं और ये कर्म अनादि से आ रहे हैं तो विनाश कैसे हो? समाधान यह है कि राग की परम्परा चली आ रही है। कोई खास राग अनादि से नहीं है। उसकी आदि है। जैसे कोई पिता अनादि से नहीं है, पिता की परम्परा अनादि से है। ऐसे ही कोई प्रकार का विकल्प कोई रागपरिणमन अनादि से नहीं होता, उसका आदि है, उत्पन्न है, इसी तरह कोई कर्म जो बंधा है वह अनादि से नहीं बंधा है, उसकी उत्पत्ति है तब से बंध है मगर इसकी परम्परा अनादि से है। हाँ तो यह प्रश्न था कि जो अनादि से हो वह नष्ट किस तरह से हो? उत्तर यह है कि इसकी परम्परा अनादि से है, ये तो अवस्थाएँ हैं। अवस्था अनादि से नहीं होती। अब तीसरा समाधान यह है कि कल्पना में आनन्द मान लो। जिसके साथ जो लगा है उसका आदि नहीं है अर्थात् उसको छोड़कर नहीं रहा तो भी उसका नाश हो जाता है। जैसे तिल में तेल भला बतलावो कब से आया? तो कोई सही नहीं बता सकेगा क्या कि हाँ अमुक दिन को आया। अरे जब से वह तिल आया तब से वह तेल आया। तिल को छोड़कर तेल नहीं रहा। जब कोल्हू में पेला जाता है तो उससे तेल अलग हो जाता है। इसी तरह परम्परा में जीव के साथ कर्म चले आ रहे हैं अनादि से रागादिकभाव तिस पर भी इनका वियोग हो जाता है। कारण यह है कि प्रायः करके सर्वसाधारण जीवों के कषायों की परम्परा अनादि ये है, जब कभी औपाधिकभाव हट जायें तो वीतरागता होने से अब जो राग होगा वह सादि है। अगर कर्म का सम्बंध छूट जाय तो फिर कभी कर्म का सम्बंध नहीं होता। रागादिक भावों कारणभूत तो कर्म हैं वे औपाधिक भावों के होने पर भी जीव के साथ लगे हैं, वे दबे हैं, तो कारण होने से रागभाव की बीच में उस समय रागभाव की परम्परा खण्डित हो जाती है, मगर राग बराबर पड़ा हुआ है इससे फिर राग की उत्पत्ति हो जाती है। क्षायक भाव में जो क्षय हुआ सो क्षय ही हुआ, उसकी आदि नहीं

है, इसलिए वहाँ कोई परिणमन ही नहीं है। तो सामान्यतया सर्व साधारण संसारी जीवों को दृष्टि में लेकर कहा जा रहा है कि जीव के साथ रागादिक और कर्मबन्ध की परम्परा अनादि से चली आ रही है और यह कर्मफल देखो तो सबके विचित्र-विचित्र मालूम पड़ रहे हैं। जीव की ये जो नाना विचित्रताएँ देखी जा रही हैं इसका कारण क्या है? किसी भी पदार्थ की एक पर्याय अन्य कारण के बिना हो सकती है। अगर विषम परिणाम बने तो अन्य कोई उपाधि अवश्य होती है। जीवों में ये सब विसमताएँ हैं। किसी को कैसी पर्याय मिली, किसी को कैसी। किसी के शुभ भाव है तो किसी के अशुभ भाव है। इन विषमताओं से अनुभव होता है कि जीव के साथ कोई विरुद्ध चीज लगी है, जो कोई विपरीत चीज लगी है उसका कोई नाम रख लो। जो चीज ध्रुव है, हाथ से न पकड़ी जा सके, आँखों से न देखी जा सके, ऐसी वह चीज है कर्म। इस प्रकार कर्मों का फल संसारी जीवों में विचित्र-विचित्र देखा जा रहा है। उस कर्मफल का विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

श्लोक-1641

कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम्।

आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम्॥1641॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को पाकर अनेक प्रकार से अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार ये कर्मफल को देते हैं। जैसे राग प्रकृति का उदय आये तो उसका निमित्त पाकर जीव में रागभाव हो रहा है तो वह रागभाव किसी बाह्य नोकर्म को विषय करके हो रहा है, नहीं तो राग बने कैसे? किसी भी परपदार्थ को विषय में न ले तो वह राग करेगा क्या? राग उत्पन्न होगा तो किसी नोकर्म का सहारा पाकर उत्पन्न होगा। तो यहाँ कर्मों के उदय को तो निमित्त कहा और जिन पदार्थों में राग हुआ, जिन पर दृष्टि देकर राग हुआ वह नोकर्म हुआ या आश्रयभूत हुआ और रागादिक भाव हुए वे भावकर्म हुए। तो तीन प्रकार के कर्मों का वर्णन होता है—द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म। तो उसमें द्रव्यकर्म तो हैं ज्ञानावरण आदिक और भावकर्म रागद्वेष है जीवकर्म और शरीर है नोकर्म। नोकर्म में प्रधान है शरीर। शरीर में नोकर्म की प्रधानता है। वैसे तो कर्मों के फल भोगने में जो-जो पदार्थ विषय में हैं, आश्रय में आते वे सब नोकर्म कहलाते हैं। तो ये कर्मसमूह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को पाकर अपनी प्रकृति के अनुसार फल देते हैं। जैसा द्रव्य होगा सामने रागप्रकृति का उदय होने पर वह राग करेगा, क्षेत्र में राग करेगा। जैसे कोई मंदिर में अकेले जाय, दर्शन करे तो वह एक क्षेत्र ऐसा है कि वहाँ फिर विषयभोग उपभोग के परिणाम नहीं होते हैं। क्षेत्र आया प्रसंग में, द्रव्य आया प्रसंग में, इसी प्रकार काल

और भाव भी प्रसंग में आया। जो जिस स्थान पर जायगा उसके उस तरह के भाव बनेंगे। सिनेमा, नाटक आदिक की जगह और तरह के भाव बनेंगे, मंदिर में और तरह के भाव बनेंगे।

जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को जीव पाता है और जिस प्रकार का उदय होता है उस प्रकार का जीव फल भोगता है। इस कारण चरणानुयोग की पद्धति से बताया है कि हम रागादिक को त्यागें, धर्मस्थानों में जावें, उपवास आदिक करें, एकान्त में रहें, ऐसी जो अनेक चरणानुयोग की पद्धतियाँ बतायी हैं वे इसी कारण बतायी हैं। तो उन आश्रय भावों का निमित्त पाकर ये कर्म फल देते हैं। अब वे क्या-क्या आश्रय होते हैं और किस-किस प्रकार का कर्मफल देते हैं उसका कुछ दिग्दर्शन कराते हैं।

श्लोक-1642

स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान्,
कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनक्रीडाद्रिसौधध्वजान्।
मातङ्गांश्च विहङ्गचामरपुरीभक्षान्नपानानि वा,
छत्रादीनुपलभ्य वस्तुनिचयान्सौख्यं श्रयन्तेऽङ्गिनः॥1642॥

इस छंद के सुख के आश्रयभूत का वर्णन है। प्राणी पुण्य मेल आफत आदिक का आश्रय पाकर सौख्यरूप परिणाम करता है। यह पुण्यकर्म का फल बताया है, पर इसमें भी यह निरखना कि पुण्य कर्म के इन फलों में भी जीव को शान्ति है क्या, आकुलता का अभाव है क्या? तो कहते हैं कि कोई बड़े सुख का अनुभव यदि कर रहा है तो उसके चित्त में आकुलताएँ मचती रहती हैं। उसे अपने आत्मा की सुध नहीं रहती। उसे उसमें चैन कहाँ है? जब उपयोग अपने आत्मतत्त्व को नहीं जान रहा तो फिर उसको चैन कहाँहोगी? कोई धन में सुख मानते, कोई अपने बड़प्पन में, कोई किसी में सुख का अनुभव करते हैं। कुछ भी चीज रखें, चटाई रखें, बहुत बढ़िया है, कीमती हो, जरा सी लपेट में आ जाय, सुन्दर हो, इसकी फिकर रखें तो बहुत बढ़िया आसन बनाकर ठाठ से बैठना, मौज मानना, भूल जाना यही है पुण्य का फल। सवारी बढ़िया, घोड़ा, हाथी, अच्छी साइकिल, अच्छी मोटर, अच्छा यान, उन्हें देखकर मौज मानना, इनमें ही जीव सुख का अनुभव करते हैं। वस्तुओं की तो नाना डिजाइन हैं। जिन डिजाइनों की संख्या लाखों की होगी। जब खरीदते हैं तो अनेक डिजाइन के वस्तुओं को देखते हैं, और उनमें से मनमाफिक डिजाइन का वस्तु खरीदकर बड़ा सुख मानते हैं। सो जरा पुण्य का उदय है, जिसके कारण आज सब कुछ मिल रहा है और बहुत-बहुत इतरा रहे हैं। ठीक है, इतरा लें, पर धर्म की ओर दृष्टि नहीं है तो फल उनको अच्छा नहीं मिलने का। नाना प्रकार के

बाजे हैं—उन बाजों की गिनती करें तो वे भी हजारों तरह के हैं। कैसे-कैसे शोक हैं लोगों के? उन बाजों की डिजाइनों की गिनती करें तो वे भी हजारों तरह के हैं। मित्र अच्छा मिल जाया। मित्र को पाकर भी यह प्राणी सुख का अनुभव करता है। एक अपने में गर्व भी करता। हमारे बड़े-बड़े मित्र हैं। पुत्रादिक आज्ञाकारी मिल गए तो उनका आश्रय करके बड़ा सुख मानते हैं। लोग अपने पुत्रों को खूब सजाकर सभा सोसाइटी में ले जाते और जैसे बैठना चाहिए, जैसी विनय करना है यह सब समझा देते हैं और उन लड़कों को उस ढंग से सभा सोसाइटी में ले जाकर अपना गौरव मानते हैं। कपूर, इत्र, धूपबत्ती आदिक कितनी ही तरह सुगंधित पदार्थों का सेवन करके सुख मानते हैं। यद्यपि कहीं इन सुगंधित चीजों के सेवन से कोई स्वास्थ्य नहीं बढ़ जाता, पर दिल बहलाने के लिए नाना तरह के सुगंधित पदार्थों का सेवन करते हैं। चन्द्रमा चन्दन आदि जो शीतल पदार्थ है उनका आश्रय करके सुख मानते हैं। शरदकाल का चन्द्र होता है उसमें कितना उत्सव मनाये जाते हैं। चन्द्र को निरखने से लोग सुख का अनुभव करते हैं। तो ये जीव चन्द्रमा चन्दन आदिक शीतल पदार्थों का आश्रय पाकर सुख का अनुभव करते हैं। वनों में घूमना, नाना प्रकार की सहस्य लीलाएँ करके बड़ा मौज मानते। ये सब पुण्य के उदय के फल हैं। लोग गर्मी के दिनों में ठंडे पर्वतों पर रहकर सुख का अनुभव करते हैं। साल के 10-11 महीना तो अन्यत्र कहीं रहे और एक आध महीने को मसूरी आदिक के पर्वत पर पहुँच गए। वहाँ पर रहकर बहुत सा खर्च भी किया और उससे अपने को सुखी अनुभव किया, इस प्रकार की बातें होती हैं। बहुत से लोग बिजलियों नसेनी से बहुत ऊँचे के मकान में झट चढ जाते हैं। इसमें अपने को सुखी अनुभव करते हैं। ये सब पुण्य के ठाठ बताये जा रहे हैं। बहुत से लोग अपने मकान या महल में ध्वजा फहराकर सुख का अनुभव करते हैं। एक सेठजी थे तो वह करोड़पति न थे। मान लो उनके पास 99 लाख का ही धन था। और जो करोड़पति हो जाय वह अपने मकान या महल में झंडा फहरा सकता था। तो उसने अपने मकान में झंडा फहराने की बात सोची। एक लाख रुपये की सिर्फ कमी थी, तो झट उसने नौकर मुनीम वगैरह कम करके और खुराक से भी बहुत कम खाकर 1 रुपया और बढ़ाने की कोशिश करने लगा। तो पैसा हाथ में आने के लिए भी वैसा ठाठ होना चाहिए। पा नौकरों की कमी के कारण उसके कार्यों में अव्यवस्था हो गयी और काम कुछ कमजोर पड़ने लगा, आखिर हुआ क्या कि ज्यों-ज्यों वह धन बढ़ाने की सोचे त्यों-त्यों उसका धन घटता जाय। वह न एक करोड रुपया का धनी बन सका और न अपने मकान में झंडा फहरा सका। तो लोग अनेक प्रकार की चीजों का सेवन करके अपने को सुखी मानते हैं। खाने-पीने की चीजों से लोग सुख भोगते हैं। ये सब पुण्य के ठाठ हैं। ये भी संसार के बढ़ाने वाले हैं, इनमें ममता जगेगी तो संसार का परिणाम बनेगा।

श्लोक-1643

क्षेत्राणि रमणीयानि सर्वर्तुसुखदानि च।

कामभोगास्पदान्युच्चैः प्राप्य सौख्यं निषेव्यते॥1643॥

यह प्राणी सर्व ऋतुओं में सुख देने वाले ऐसे क्षेत्रों को प्राप्त करके सुख का अनुभव करता है। ऐसी जगह जन्ममिले या जानकर ऐसा जगह बस जाय जहाँ गर्मी के दिनों में अधिक गर्मी न पड़े और जाड़े के दिनों में अधिक जाड़ा न पड़े। जहाँ कोई प्रकार का कष्ट न हो, सभी ऋतुओं में सुख दे, ऐसे क्षेत्र को पाकर सुखी मानते हैं, जहाँकाम भोगों के साधन हों ऐसी जगहों में ये प्राणी मौज मानते हैं। ये तो बताये हैं संसार पुण्य के फल। अब कुछ पापकर्म के भी फल सुनें। कर्म हैं पाप और पुण्य। धर्म दृष्टि हो तो कभी तो पाप का फल भोगते हुए भी यह मार्ग में लग सकता है और प्रायः करके पुण्य का फल भोगते हुए लोग धर्म दृष्टि के मार्ग में लगे हैं।

श्लोक-1644

प्रसासिक्षुरयन्त्रपन्नगगरव्यालानसोग्रग्रहान्,

शीर्णाङ्गन्कृमिकीटकण्टकरजःक्षारास्थिपङ्कोपलान्।

काराशृङ्खलशङ्कुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरास्तथा,

द्रव्याण्याप्य भजन्ति दुःखमखिलं जीवा भवाध्वस्थिता॥1644॥

संसार मार्ग में रहते हुए जीव इन-इन वस्तुओं का निमित्त पाकर, आश्रय पाकर सुख भोगता है। जैसे तलवार, बन्दूक, छुरी आदि। इन-इन शास्त्रों की सहायता से यह जीव अपने को सुखी अनुभव करता है। किसी से ही बात हो रही और बात बढ़ गई तो गोली मार दी, छुरी भोंक दी अथवा कोई भी शस्त्र मार दिया। कुछ मिलता-जुलता नहीं, पर व्यर्थ में लोग दूसरों का घात कर डालते हैं। सर्पादिक विषधर जीव डस लें और मरण हो जाय तो पाप का उदय आता है तब तो ऐसा निमित्त मिलता है। विषयों से व्यग्र हो जाना, सर्पों के डसने से बड़ा बेचैन हो जाना, ये सब पाप के फल हैं। कोई दुष्ट सिंहादिक जानवर द्वारा प्राणघात हो जाय तो यह भी पाप का फल है। अग्नि में जल जाय, वन में आग लग जाने से अथवा किसी तरह आग लग जाने से किसी का प्राणान्त हो जाय तो ये सब पाप के फल हैं। दुर्गन्धित शरीर हो जाय, शरीर के अंग

गल जायें, कोढ़ हो जाय, चलते न बने तो ये सब पाप के फल हैं। टूटी पीप आदिक से शरीर दुर्वासित हो जाय तो यह भी पाप का फल है। ज्ञानी जीव पुण्य और पाप के फल का विचार कर रहा है। यह पुण्य फल मेरा नहीं है। यह कर्मफल है तभी तो निमित्त की मुख्यता से वर्णन करने में एक लाभ पुद्गल दृष्टि मिल जाती है। जैसे रागादिक भाव पौद्गलिक हैं, पुद्गल के निमित्त से होते हैं इसलिए पुद्गल से इनका सम्बंध है। आत्मा से सम्बंध न समझें, आत्मा को निर्लेप देखें, आत्मा के स्वभाव की दृष्टि की तो क्या निमित्त की बात मान लेने में कोई बिगाड़ है? बिगाड़तो आशय खोटा है इससे है। यह औषधि है एक। ऐसे आशय से आत्मा को एक स्वभावदृष्टि मिलती है। कोई बेड़ी पड़ जाय, कीला गड़ जाय, ये सब पाप के फल हैं। कोई क्रूर दुष्ट बैरी मिल जाय, अपने को सताने लगे, घात करे तो ऐसा द्रव्यप्राण खोकर यह आत्मा दुःख भोगता है। शुभ कर्मों का भी फल संसार में भटकना है, अशुभ कर्मों का भी फल संसार में भटकना है। ये फल मेरे आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। मेरा आत्मा केवल चैतन्यमात्र है—इस प्रकार आत्मा के विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि रखे और इस कर्मफल का फिर विचार करे। कर्मफल का विचार करते हुए में लक्ष्य यह रखना चाहिए कि ये सब कर्मफल हैं। यह विचार करता है कि ये कर्मरूपी विषवृक्ष के फल हैं, मेरे भोगे बिना वे गल जायें। भोग क्या कि ये कर्मफल आ रहे हैं। रागादिक विभाव नाना परिस्थितियाँ, उनको उपयोग ग्रहण करे घबड़ायें या सुखी हो। उसमें मौज माना, अपनाया तो यह भार बन गया। वैसा उपयोग यदि इस कर्मफल का ग्रहण न करे तो ग्रहण न करने की स्थिति में जैसा यह अबुद्धिपूर्वक हो जायगा, होकर बन जायगा, किन्तु बुद्धिपूर्वक इस फल को पकड़ा गया तो विशिष्ट कर्मबन्ध होगा। तो यह सब कर्मरूप विष वृक्ष फल मेरे भोगे बिना जाय। तो एक जो लक्षण निज अंतस्तत्त्व में मग्न हो रहा था और इसी में मेरा जीवन व्यतीत हो—ज्ञानी जीव यह भावना बनाता है। विपाकविचय धर्मध्यान में विचित्र कर्मफलों का चिन्तन करके विपाकविचय धर्मध्यानी पुरुष ऐसा चिन्तन करता है कि मुझे अपने स्वभाव की दृष्टि रहेगी, अपने आत्मस्वभाव की दृष्टि रहेगी तो हम अपने विशुद्ध मार्ग में बढ़ते चले जायेंगे और उस विशुद्ध मार्ग में बढ़कर हम अपार लाभ पायेंगे।

श्लोक-1645

निसर्गेणातिरौद्राणि भयक्लेशास्पदानि च।

दुःखमेवाप्नुवन्त्युच्चैः क्षेत्राण्यासाद्य जन्तवः॥1645॥

विपाकविचय धर्मध्यान में ज्ञानी पुरुष कर्मों के नाना फलों का चिन्तन कर रहा है। जगत में जितनी विचित्रताएँ हैं वे सब कर्मों के फल हैं। यह प्राणी स्वभाव से ही ऐसे क्षेत्रों को पाकर दुःखी होता है जो क्षेत्र रौद्र भय और

क्लेश के ठिकाने हैं याने ऐसे-ऐसे स्थान हैं जो बड़े भयानक हैं, जिनमें नाना तरह के क्लेश हैं, ऐसे क्षेत्रों को पाकर दुःखी होता है। जैसे बर्फीली जगह जहाँ बर्फों में कुछ मनुष्य रहते हैं उनका जीवन क्या? वहाँ न खेती है, न अन्न है, न ढंग से रहने को है, पता नहीं कैसे क्या करते हैं? तो ऐसे-ऐसे रौद्र स्थान हैं जिन स्थानों में जन्म लेकर यह-यह जीव नाना दुःखों को भोगता है। यह कर्मों का फल विचार कर रहा है। जीव तो स्वभाव से एक चैतन्यमात्र है, जहाँ आकुलता रंच मात्र भी नहीं है, लेकिन इस जीव ने अपना यह साधारण स्वरूप खोकर, अपने उपयोग में न लेकर बाहर में दृष्टि लगाये है जिसने इससे अलग-अलग कुछ समझा है, अपने ज्ञान के खण्ड-खण्ड कर डालता है और किसी पदार्थ में राग व किसी पदार्थ में द्वेष करता है। इस तरह यह जीव नाना तरह से दुःखी होता है। गलती परिणति की दृष्टि से देखो तो अपनी है। भले ही यह कह लीजिए कि कर्मों का उदय ऐसा ही था ऐसा ही निमित्त था कि ऐसा परिणाम करना पड़ा, मगर परिणाम जैसा करना पड़ा, जिसको परिणामन बनाना पड़ा अपराध तो उसका है। और जितने भी जीव दुःखी होते हैं वे अपने ही अपराध से दुःखी होते हैं, कोई दूसरा किसी को दुःखी कर ही नहीं सकता। वस्तुस्वरूप की बात कही जा रही है। किसी में सामर्थ्य नहीं कि किसी का दुःखरूप अथवा सुखरूप परिणामन बना दे। जीव खुद परिणाम बनाता है, अपराध करता है और दुःखी होता है। तो सबसे पहिला अपराध यह है कि है तो भिन्न चीज और उसे मान लिया अपनी। इतनी बड़ी जो चोरी कर रहा है यह जीव उसका परिणाम यही तो मिल रहा है कि नाना प्रकार की पर्यायों को धारण करता है। नाना प्रकार के दुःखों को यह जीव भोगता रहता है, यह सब पाप का फल है।

श्लोक-1646

अरिष्टोत्पातनिर्मुक्तो वातवर्षादिवर्जितः।

शीतोष्णरहितः कालः स्यात्सुखाय शरीरिणाम्॥1646॥

जो पापी जीव है वह दुःखी होता है, और जो पुण्योदय वाला जीव है वह सुखी होता है। एक ही घर में नाना विचार वाले जीव हैं। कोई निर्मोह ढंग से रहता है, सुख से रहता है, कोई बहुत बड़ा मोह करके रहता है, दुःखी रहता है। तो जिसके जैसा उदय है पुण्य का अथवा पाप का, उसके अनुसार अवस्था मिलती है। तो जो पुण्य वाले जीव हैं उनको ऐसा अवसर मिलता है, ऐसा क्षेत्र मिलता है कि जहाँ दुःख देने वाला कोई उत्पात नहीं है। हवा, बर्फ आदिक जो कोई कष्ट उत्पन्न करने वाले मौके हैं उनसे रहित समय पाता है। ऐसे समय में ऐसे क्षेत्र में ये पुण्यवान जीव सुख भोगते हैं। जहाँ शीत अधिक पड़ती है, न गरमी अधिक

पड़ती है। अच्छा क्षेत्र मिलता जो सुख का कारण हो, ये तो पुण्य के काम हैं, और ऐसे खोटे क्षेत्र मिलना, खोटा समय मिलना जिससे दुःखी हों ये पाप के काम हैं। तो संसार में क्या दिख रहा है? सिवाय पुण्य पाप के और कुछ नजर नहीं आता। और जिसके पाप है वह दुःखी है सांसारिक, मानसिक, वेदनावों से और पुण्यवान तृष्णा करके दुःखी होते हैं। जिसके जितना पुण्य का उदय है वह उतना बड़ा तृष्णालु बन सकता है। देहाती आदमी साधारण परिस्थिति का कोई तृष्णा बनायेगा अपने गुजारे के माफिक वह भी साधारण भांति से। पर जिसके पुण्य का उदय है वह लाखों करोड़ों की कल्पनाएँ करता है, तृष्णा करता है और दुःखी होता है। सो यहाँ कोई सुखी नहीं है। कल्पना से लोग छांट लेते हैं कि यहाँ बड़ा सुख है, ऐसा घर है, ऐसी दूकान है, यह बड़ा सुखी होगा मगर सुखी कोई नहीं है। सुख कहो, शान्ति कहो, आनन्द कहो, निराकुलता कहो, वह तो मोह रागद्वेष के त्याग से हैं खूब सोच लो—जब तक अपना परिणाम मोह रागद्वेष से रहित न बन सकेगा तब तक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। और मोह रागद्वेष है व्यर्थ का। समस्त चीजें न्यारी हैं, भिन्न हैं, साथ रहने वाली नहीं हैं, मिटेगी, पर अज्ञानी जीव ने उनसे अपना हित माना है। यही वैभव, यही स्नेह, यही कुटुम्ब, पर इनका ध्यान करके ये अज्ञानी जीव दुःखी हैं, अज्ञानी जीव ईर्ष्या भी करते हैं। यह बहुत ज्यादा धनी हो गया, ऐसी ईर्ष्या करते हैं अज्ञानी जन। ज्ञानी जीव ईर्ष्या नहीं करते क्योंकि वे तो इस तरह देखते कि ये तो बड़े दुःखी हो गए हैं। जब दूसरों को दुःखी हो गए इस तरह मानते तो वहाँ ईर्ष्या कहाँ? दया आ गयी। यह ज्यादा धनी हो गया, बड़ा दुःखी हो गया, अपना उपयोग कहाँ-कहाँ भटका रहा है। वह तो दूसरों को दया का पात्र मानेगा, ईर्ष्या क्या करेगा? अज्ञानी पुरुष ही दूसरों के इन लौकिक उत्कर्षों को देखकर ईर्ष्या करते हैं।

श्लोक-1647

वर्षातपतुषाराद्य ईत्युत्पातादिसंकुलः।

कालः सदैव सत्वानां दुःखानलनिबन्धनम्॥1647॥

जिनके पाप का उदय है उनको ऐसा समय मिलता है कि जो बर्फ के उत्पात वाला है। जहाँ बर्फ की अधिक वर्षा होती रहती है, जहाँ पर सुख शान्ति नहीं मिल पाती बल्कि कष्ट ही बढ़ते रहते हैं। तो यह जीवों के पापोदय का कारण है। जहाँ बहुत गर्मी पड़े, सही न जाय, जहाँ शरीर के ढंग बदल जायें, रात-दिन कष्ट आये, बहुत समय तक गरमी चले। ऐसे क्षेत्र अथवा काल इस जीव को पाप के उदय से मिलते हैं, जहाँ तुषा बर्फ पड़ती रहती है। कल्पना करो कि जो क्षेत्र ऐसे हैं कि जहाँ बर्फीले स्थान हैं, कैसे लोग उस

बर्फ पर चलते हैं, क्या उनको खाने को मिलता है? क्या उनकी जिन्दगी है, उनका तो पशुओं जैसा जीवन है। न कुछ हित की बात सोच सकें और न कोई ढंग से भोगोपभोग का साधन कर सकें, ऐसे खोटे क्षेत्रों में जन्म होना यह पापोदय का कारण है। जहाँ ईति-भीति, अनेक भय ज्यादा रहते हैं, दूसरा शत्रु चढ़ाई कर दे। उत्पात जहाँ ज्यादा रहे ऐसे स्थान में जन्म लेना यह संसार संतति का कारण है। पापोदय चल रहा है, उससे ऐसे-ऐसे पाप के स्थान बन रहे हैं यह ज्ञानी जीव विचार कर रहा है। इस विचार के साथ ही साथ उसके लक्ष्य में यह बना हुआ है कि जीव का स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य है। और फिर कर्मों के फल को विचार रहा है कि ये फल प्राप्त होते हैं जीवों को, ये सब एक उदय से होते हैं और यह उदय की चीज परतत्त्व है। इस पाकर क्रोध, मन, माया, लोभ, तृषा आदिक न करना, एक अपने आपके स्वरूप की ओर जाना चाहिए। विपाकविचय धर्मध्यान में उन विपाकों का चिन्तन चल रहा है जो अपने आत्मा में अपने विभाव प्राप्त है। रागद्वेष की प्राप्ति है उन परिणामों को ज्ञानी ऐसा सोच रहा है कि ये मेरे आत्मा की चीज नहीं हैं। जिसने यों आत्मा से भिन्न समझ लिया उसे फिर उसमें मोह नहीं होता। तो ऐसी निर्मोह दृष्टि न पाकर अज्ञान में भ्रमण कर करके यह जीव ऐसी दुःखरूप अग्नि का संताप सह रहा है। जिसे दूसरा देखे तो यह कह बैठे कि यह बर्दाश्त के काबिल नहीं है। ऐसे नाना फल मिलते हैं जीवों को तो उन्हें जान करके यह शिक्षा लेनी है कि हमें अपने परिणाम विशुद्ध रखना चाहिए, दूसरों का बुरा न विचारें और अपने निजी स्वभाव को निरखें। जिस स्वभाव को निरखने पर, जिस स्वरूप पर मग्न होने पर संसार का कोई क्लेश नहीं रहता उसे देखें। और फिर दूसरी बात यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—ये 5 पाप हैं इनकी प्रवृत्ति निरखें तो यह जीव कर्मों के विपाक से मुकाबला कर सकता है।

श्लोक-1648

प्रशमादिसमुद्भूतो भावः सौख्याय देहिनाम्।

कर्मगौरवजः सोऽयं महाव्यसनमन्दिरम्॥1648॥

जो कर्मों के उपशम आदिक से उत्पन्न होने वाले भाव हैं वे जीवों को सुख के लिए होते हैं और जो कर्मों के गौरव से तीव्र उदय से जो भाव उत्पन्न होता है वह महान कष्ट का भय है। कर्म बंधे हैं सबके साथ। जिन्होंने निर्मल परिणाम किया है उनके कर्म दबे। तो उस उपशम का निमित्त पाकर जो जीव में भाव होगा वह सुखरूप भाव होगा और जो कर्म के उदय से भाव होगा वह दुःखरूप होगा। अब कर्मों का उपशम करने में अपन करें क्या? कर्म दिखते हैं नहीं उन्हें फिर दबाना क्या? कैसे उपशम हो? तो हममें इतनी

सामर्थ्य नहीं, ये तो अपने आप होंगे, कर्म दबेंगे, कर्म क्षीण होंगे, एक भी कर्म न रहेंगे, ये सब बातें सम्भव हैं, पर इसके लिए विशुद्ध परिणाम चाहिए। हम कर्मों को जानकर क्या दबाये? हमारा काम तो यह है कि अपना परिणाम निर्मल रखें, अपने परिणामों की सम्हाल रहे तो कर्मों का उपशम होगा। जैसा जो कुछ होता है भलाई के लिए वह सब सम्वेग हमारा बन सकेगा, पर अपना परिणाम विशुद्ध रखें, क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा में अपने परिणाम न फंसायें। तो मनुष्यों की जो दशायें होनी चाहिए भलाई के लिए वे सब अपने आप होंगी। जिसे कहते हैं अष्टकर्मों को ध्वस्त करना। वे कर्म कैसे ध्वस्त किए जायें, वे तो ग्रहण में ही नहीं आते। वे परपदार्थ हैं और यह आत्मा है निज पदार्थ। हम पर में क्या बना सकेंगे? कोशिश विशुद्ध परिणामों की करना चाहिए, फिर कर्मों में जो कुछ होने की आवश्यकता है सुखशान्ति के लिए वह सब स्वयमेव होगा।

श्लोक-1649

मूलप्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिताः।

ज्ञानावरणपूर्वास्ता जन्मिनां बन्धहेतवः॥1649॥

कर्मों में मूल प्रकृतियाँ 8 हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। हमने कैसे जाना कि जीव के साथ 8 कर्म लगे हैं। हम कार्य देख रहे हैं इसलिए उनके कारण का अनुमान करते हैं। जीव में ज्ञानगुण प्रकट नहीं हो पा रहा। साधना न मिलने पर ज्ञान प्रकट नहीं हो पा रहा। एक स्कूल के 10 बच्चों को सबको याद होता है पर एक को नहीं याद होता, तो इसमें कुछ कारण होना चाहिए। जीव के स्वभाव की दृष्टि से तो यह ज्ञान ऐसा रखता है कि समस्त विश्व को स्पष्ट जान ले, लेकिन वह भी ज्ञान नहीं। यहाँ के छुटपुट ज्ञान नहीं हो पाते तो इसमें कोई विरुद्ध उपाधि लगी है उसी का नाम लोगों ने जन्म रखा, मरण रखा। ज्ञानावरण कर्म रखा, जो ज्ञानगुण को प्रकट न होने दे। दर्शनावरण कर्म जो आत्मा का दर्शन गुण न प्रकट होने दे। कोई जीव इन्द्रिय के भोग उपभोग साधन खूब जुटा रहा है। मौज कर रहा है, कोई जीव इन इन्द्रियों से क्लेश पा रहे तो इससे सिद्ध है कि यह उपाधि ऐसी लगी है जिसकी वजह से सुख-दुःख के नाना भेद पड़ गए, उस उपाधि का नाम है वेदनीय। नाम कुछ रख लो। जैसे यहाँ व्यवहार में हम चीजों का नाम रखते हैं तो ऐसा नाम रखते हैं जो जीव के स्वरूप की बात बताये। जैसे चौकी जिसमें चार कोने हों उसका नाम चौकी। तो शब्द ऐसा बोलेंगे कि जिससे उस पदार्थ की तारीफ भी तुरन्त मालूम हो जाय। जैसे चटाई नाम रखा तो चट आयी सो चटाई। यों उसकी तारीफ तुरन्त हो गई। तो चैतन्य कहो, जीव कहो, आत्मा कहो, ब्रह्म कहो ये सब स्वभाव से विशुद्ध आनन्दस्वरूप हैं। मगर इनमें सुख-

दुःख के जो भेद पड़े हैं इनका कोई कारण होना चाहिए। वह कारण है वेदनीय कर्म। जीव अपने स्वभाव को रख नहीं पाता। अपने स्वरूप के निकट नहीं आ पाता। देखो है खुद अपने स्वरूप रूप, पर अपनेको नहीं समझ पाता। इसमें कोई कारण है वह कारण है मोहनीय का। मोहनीय कर्म का ऐसा उदय आता कि यह जीव अपना स्वरूप भूल जाता है और अपने स्वरूप को जानकर स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिए था। मगर नहीं हो सका यह जीव। तो इसमें कुछ कारण है। जो कारण है उसका नाम है चारित्र मोहनीय कर्म। ये जीव है तो स्वतंत्र स्वरूप वाले, इनमें किसी का बन्धन नहीं है। स्वभावदृष्टि को निरखियेलेकिन यह शरीर के बन्धन में पड़ा रहता है। शरीर बूढ़ा हो गया, शीर्ण हो गया, अनेक उसमें सुख आते हैं मगर उस शरीर को छोड़कर नहीं जा सकते। ऐसा बन्धन पड़ा है, और मान लो आत्मघात करके शरीर से छुटकारा पा लिया तो इसी शरीर से ही तो पाया। अगले भव में जो नाना शरीर मिलेंगे उनसे छुटकारा ऐसे नहीं होता। तो शरीर को रोके रहना यह किसी कर्म का काम है। उस कर्म का नाम रखा आयुर्कर्म। किसी को कैसा शरीर मिलता, किसी को कैसा, यह सब नाम प्रकृति के उदय से होता है। और ऊँच-नीच कुल में जन्म लेना गोत्र कर्म का कारण है। दान देते समय परिणाम हो जाय खराब तो यह अन्तराय कर्म है। और भोगों में उपभोगों में विघ्न आते हैं, लाभ नहीं हो पाता, भोगसाधन हैं मगर भोग नहीं सकते, ऐसा रोगी हो जाते कि वेद्य सभी चीजें खाने को मना कर देता। तो भोग भोगने में बाधा आती है ये सब अन्तराय कर्म हैं। ये कर्म जीव में लगे हैं जिससे जीव दुःखी हैं। इस प्रकार कर्म विपाकविचय धर्मध्यान में यह ज्ञानी जीव नाना प्रकार के फलों का चिन्तन करता है। साथ ही अपने को पृथक् निरख रहा है कि यह फल हे, पौद्गलिक है, कर्म का बन्धन है। मेरे साथ तो मेरा स्वरूप है, इस प्रकार विचार करना यह कर्म विपाकविचय धर्मध्यान है। इस विपाकविचय का चिन्तन करने से कर्मों की निर्जरा होती है।

श्लोक-1650

ज्ञानावृत्तिकरं कर्म पञ्चभेदं प्रपञ्चितम्।

निरुद्धं येन जीवानां मतिज्ञानादिपञ्चकम्॥1650॥

जीव के साथ जो उपाधि लगी है उस उपाधि में 8 प्रकार की प्रकृतियाँ पड़ी हुई हैं। 8 प्रकृतियाँ कहो चाहे 8 कर्म कहो, जीव के साथ 8 प्रकार के कर्म लगे हैं। यह तो युक्ति ही बतलाती है कि कोई पदार्थ विषम परिणमता है तो उसके साथ कोई विरुद्ध चीज लगी हुई है। जैसे पानी कुछ गरम हुआ, कुछ पानी ज्यादा गरम हुआ तो उस पानी में विषमता है किसी पदार्थ का समागम होने से, अग्नि के संसर्ग से। तो जीव

में जो स्वभाव के प्रतिकूल परिणमन चल रहा है उससे यह समझना है कि कोई विरुद्ध चीज लगी हुई है, वह है कर्म, चाहे कुछ भी नाम रख लो। जीव चेतन है तो उपाधि अचेतन होगी। जीव सूक्ष्म है तो उपाधि स्थूल होगी। सिद्धान्त ने उसका नाम अस्तिकाय रखा है। मूल प्रकृतियाँ 8 हैं। उनमें प्रथम है ज्ञानावरण कर्म। ज्ञानावरण कर्म उसे कहते हैं कि जिसके उदय में आत्मा में ज्ञान का प्रकाश न हो सके। इसमें आवरण शब्द बोला है। जो ज्ञान का आवरण करे सो ज्ञानावरण है। इतना सोचना चाहिए कि आत्मा में ज्ञान मौजूद है तो आवरण नहीं कोई कर सकता और नहीं मौजूद है ज्ञान तो फिर आवरण उसके साथ यह लगना चाहिए कि शक्तिरूप से ज्ञान है, उसका विकास नहीं हो सकता। ज्ञानावरण कर्म के उदय में आत्मा में ज्ञान का विकास नहीं होता। यह सब जानने की इसलिए जरूरत है कि संसार के जीव बाहरी पदार्थों के संग्रह विग्रह में लगे रहते हैं और उसमें ही अपना हित मानते हैं, बाहर में इष्ट अनिष्ट बुद्धि करने में अपना हित समझते हैं, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि ये तो एक विनाशीक बातें हैं इनसे आत्मा का कुछ सम्बंध नहीं है। साथ जो कर्म लगे हुए हैं सो वे कर्म कैसे दूर हों—इसका प्रयत्न करना चाहिए। ये संसारी जीव जो बाहरी पदार्थों की व्यवस्था बनाने में लगे रहा करते हैं उससे पूरा न पड़ेगा।

जीव के साथ कर्म लगे हैं और मरने पर शरीर तो यही रह जाता है पर कर्म साथ जाते हैं। हर एक कोई कहते हैं कि जीव ने जो कर्म किया है वे कर्म जीव के साथ जाते हैं। मगर कर्म क्या चीज है जो साथ जाते हैं? इसका खुला जैनशासन के अतिरिक्त कहीं न मिलेगा। ये कार्माण वर्गणा जाति के पौद्गलिक स्कंध हैं और जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह होकर बंध गए हैं। जब जीव जाता है तो जीव के साथ ये कर्म भी जाते हैं। लोग यह भी मानते हैं कि जीव के मरने पर याने शरीर के छूटने पर स्थूल शरीर तो यही पड़ा रहता है और सूक्ष्म शरीर जीव के साथ जाता है। वह सूक्ष्म शरीर भी क्या है उसे जैनशासन ने स्पष्ट बताया है—एक तो कर्म दूसरा तेज। तैजसशरीर और कार्माण शरीर ये दो सूक्ष्म शरीर जीव के साथ जाते हैं। तो बरबादी के कारणभूत ये कर्म हैं। ये कर्म कैसे दूर हों इस प्रकार का विचार करना और प्रयत्न करना यह कर्तव्य है।

कर्मों के दूर करने का उपाय अपने आत्मा की सम्हाल है क्योंकि कर्म तब बनते हैं जब आत्मा की सम्हाल नहीं रहती है। तो ऐसी शुद्ध अवस्था पाकर ये कर्म बंध जाते हैं। जब हम अपनी सम्हाल रखेंगे तो कर्म अपने आप न बँधेंगे। कर्मों पर दृष्टि डालते हुए कि हमें तो इन्हें नष्ट करना है। इस तरह से कर्म नष्ट होंगे अपने आत्मा की सम्हाल करने से। तो उन कर्मों की चर्चा चल रही है जो जीव के साथ ये अष्ट कर्म लगे हैं, जिनमें प्रथम ज्ञानावरण कर्म है, जिसके कारण 5 प्रकार का ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। ज्ञान तो एक ही प्रकार का है। आत्मा है और उसका स्वरूप ज्ञान है। सो आत्मा का जो स्वरूप ज्ञान है वह तो एक ही प्रकार का है। ज्ञानज्योति है, सामान्य तत्त्व है, पर वह ज्ञान कर्मबन्धन की हालत होने के कारण उस ज्ञान को कुछ भेदों में बांट दिया गया है। ज्ञान 5 प्रकार के हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और

केवलज्ञान। जिनके केवलज्ञान प्रकट है उनके ज्ञानावरण कर्मों के पूर्ण क्षय से प्रकट है। अपने स्वरूप की प्रतीति हो, अपने कैवल्य स्वरूप पर दृष्टि रहे तो इस प्रयत्न से केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान होता है समस्त विश्व के पदार्थों को जानने वाला विश्व के पदार्थों को जानने की कोशिश करें। केवलज्ञान होता है तब जब बाहर के जानन छोड़कर अपने आपके अन्तरङ्ग का जानना बना रहे और अन्तः ज्योति का ही आलम्बन रहे। सब जीवों का इसी में कल्याण है कि अपने स्वरूप का शुद्ध विकास हो। और बातों में कल्याण नहीं है। पर अच्छा ज्ञान बन गया, परिवार अच्छा मिल गया, वैभव जुड़ गया तो सब विकल्प के ही कारण होंगे। ये बरबादी के ही हेतु होंगे, इनसे आत्मा का कुछ भी कल्याण न होगा। आत्मा का कल्याण केवल विचारने में है। जैसा सहजस्वरूप है अपने सत्त्व के कारण जैसा अपने में स्वरूप है उस स्वरूपमात्र प्रतीति और उपयोग रखने से केवलज्ञान प्रकट होता है। और यहाँ निमित्तदृष्टि से कहा कि ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से ही केवलज्ञान होता है। अब चार ज्ञान रहे—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। ये चार ज्ञान कर्मों के क्षयों से प्रकट होते हैं। प्रकृतियाँ भी 5 बन गयी ज्ञान के भेद से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। इन सभी के पूर्ण क्षय से केवलज्ञान होता है।

मतिज्ञान मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रकट होता है। ये मतिज्ञान के ढाकने वाले जो कर्म लगे हैं उनमें कुछ का तो उदयाभावी क्षय है। उदय में आते और निष्फल खिर जाते हैं और उनका ही उपशम, उनमें से ही कुछ कर्मप्रकृतियाँ देशघाती का उदय ऐसी स्थिति में मतिज्ञान प्रकट होता है। इन्द्रिय और मन की सहायता से जो पदार्थ का एक विशुद्ध ज्ञान होता है, जहाँ विकल्प नहीं है उसे मतिज्ञान कहते हैं और उस मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का जो विशेष ज्ञान होवे उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे आँखों से देखा और देखते ही वही चीज दिख गई। जब यह समझ में आ रहा वही तो श्रुतज्ञान हुआ और उससे पहिले दिख गया तो यह चीज वही है इस तरह का विकल्प न होना चाहिए वही चीज है, वह मतिज्ञान हुआ, और मोटेरूप में यों समझिये कि जैसे घर में कोई बच्चा जन्म लेता है तो कुछ दिनों तक वह बच्चा घर में माँ-बाप, भाई-बहिन, भौंटा आदिक सभी को देखता है पर उसके मन में कभी ऐसा विकल्प नहीं होता कि यह मेरा अमुक है, उसे कुछ पता ही नहीं है तो यह श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से खाली यह संसार नहीं है। तीसरा है अवधिज्ञान। अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से ऐसा ज्ञान प्रकट होता है कि यह ज्ञानी जीव मन और इन्द्रिय की सहायता के बिना जानता है, आत्मीय शक्ति से जानता है। भूत भविष्य की बात जानता है, यहाँ वहाँ के लम्बे क्षेत्र की बात जानता है, पर जानता है पुद्गल को। वह अवधिज्ञान कहलाता है। उस अवधिज्ञान को जो प्रकट न होने दे उसे अवधिज्ञानावरण कहते हैं। देखो हम आपमें अवधिज्ञान की शक्ति पड़ी हुई है, पर ये सब धर्मपालन के प्रभाव से स्वयं प्रकट होते हैं। ऋद्धि सिद्धि ज्ञान ये धर्मपालन के प्रभाव से विकसित हैं। धर्मपालन यही है कि आत्मा का धर्म है चैतन्यस्वभाव, उस रूप अपने को मानना यही धर्म का पालन है, यही ज्ञान के विकास का उपाय है। बाहर में ज्ञान जोड़-जोड़कर बड़ा ज्ञानी कोई नहीं बन सकता। अपने ज्ञानभाव

का आश्रय लेकर यह ज्ञानी बनता है, इस कारण योगीश्वर ऐसा ही योग करते हैं कि अपने आपको एक चैतन्यस्वभाव अनुभव करते हैं। यह परमात्मा का प्रकाशक एक योग है। मनःपर्ययज्ञान से दूसरे के मन की बात जानते हैं। यह भी मनःपर्ययज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्रकट है। यह अवधिज्ञान से बड़ी ऋद्धि है। और केवलज्ञान होता है 5 प्रकार के ज्ञानावरण के क्षय से। इस तरह जो 5 ज्ञानों का आवरण करता है उसे ज्ञानावरण कहते हैं। जीव के साथ जो कर्म लगे हैं उनमें प्रथम ज्ञानावरण का वर्णन किया।

श्लोक-1651

नवभेदं मतं कर्म दृगावरणसंज्ञकम्।

रुद्धयते येन जन्तूनां शश्वदिष्टार्थदर्शनम्॥1651॥

दूसरा कर्म लगा है जीव के साथ दर्शनावरण। जो दर्शन गुण को प्रकट न होने दे उसे दर्शनावरण कहते हैं। आत्मा में जैसा ज्ञानगुण है, जिसके विकास में यह अनेक पदार्थों को जानता रहता है। यह पुस्तक है, यह चटाई है, यह अमुक है, इस वस्तु का यह स्वरूप है, ये सब ज्ञान हम आपको जो होते हैं वे ज्ञानगुण के विकास हैं। पर एक मर्म की बात और जानें कि दर्शन गुण न हो तो ज्ञानगुण भी ठहर नहीं सकता, सत्ता नहीं रख सकता। ज्ञानगुण से सब कुछ जाना और सब कुछ जानने रूप अपने आपका प्रतिभास भी चलता है तो ज्ञान की प्रतिष्ठा होती है। दर्शनगुण न हो तो ज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं रह सकती। ये चैत सके दोनों स्वरूप हैं—ज्ञान और दर्शनातो उस दर्शनगुण जो प्रकट न होने दे उसे दर्शनावरण कहते हैं। ऐसे दर्शनावरण 9 प्रकार के हैं—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शन, केवलदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, निद्रा-निद्रा दर्शनावरण, प्रचलादर्शनावरण, सत्यानगृद्धिदर्शनावरण आदि। यह सब अपनी बात चल रही है कि अपने में जो दर्शन और ज्ञानगुण हैं वे कर्मबद्ध की हालत में किस-किस प्रकाश में नहीं आते, उसका वर्णन चल रहा है। चक्षुइन्द्रिय से जो हमें ज्ञान प्रकट होता है उस ज्ञान से पहिले जो दर्शन का विकास है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। आँखों से दिखता नहीं है, आँखों से तो ज्ञान होता है। दिखना होता है दर्शनगुण से। जैसे कानों से देखते नहीं हैं, कानों से ज्ञान होता है। ऐसे ही सभी इन्द्रियों से दिखता नहीं है किन्तु ज्ञान होता है। लोग रूढ़िवश कह देते हैं कि आँखों से दर्शन होते हैं। जो नेत्रों से देखने में ढाके, प्रकट न होने दे उसे चक्षुदर्शनावरण कहते हैं। और आँखों से छोड़कर शेष के 4 इन्द्रिय और मन के द्वारा जो हमें ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान से पहिले जो सामान्य प्रतिभास है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। उसे जो प्रकट न होने दे उस कर्म का नाम है अचक्षुदर्शनावरण दर्शन और ज्ञान का कुछ अन्तर जानने के लिए एक दृष्टान्त लें। जैसे लड़के लोगों का ऊँची कूद कूदने का

एक खेल होता है। तो लड़के दौड़कर फिर जिस जगह से कूदते हैं उस जगह पर वे पहिले नीचे वजन देते हैं तब उठकर फांदते हैं। यह तो सभी के अनुभव की बात है। वे लड़के जितना ही नीचे को वज़न देकर कूदेंगे उतनी ही ऊँची कूद कूद सकेंगे। तो ऐसे ही समझिये कि आत्मा जब इन पदार्थों को जानता है तो उन जाननों से पहिले आत्मा यह अपने आपका आलम्बन लेता है तब यह ज्ञानगुण प्रकट करता है। पहिले यह अपना सामान्य प्रतिभास करता है तब ज्ञानगुण भी विकास करता है। तो अचक्षुदर्शनावरण के बाद अवधिदर्शनावरण, अवधिज्ञान होने से पहिले जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। उस अवधिदर्शन को जो प्रकट न होने दे उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं। एक साथ केवलदर्शनावरण केवलज्ञान के साथ-साथ जो सामान्य प्रतिभास रहता है उसे केवलज्ञान कहते हैं और उसे जो प्रकट न होने दे उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं। ये 4 हुए दर्शनावरण और 5 होती हैं ऐसी स्थितियाँ कि जिनके आत्मा के दर्शनगुण का उपयोग नहीं रहता।

निद्रा नाम की प्रकृति के उदय में ये पशु पक्षी मनुष्य सभी सो जाते हैं तो सोई हुई हालत में न ज्ञान का उपयोग है, न दर्शन का, वैसा ही मुर्दा जैसा पड़ा है। देखो मुर्दा जैसा नींद में पड़ जाता पर लोग जान-जानकर मुर्दा जैसा पड़ जाने की बात चाहते हैं। जब श्रम किया तो श्रम के निवारण के लिए निद्रा आती है, लेकिन जो लोग श्रम नहीं करते और मन के विकल्प मचाते रहते हैं, मन ही मन का व्यापार करते हैं, परिश्रम कुछ नहीं, न मूलधन लगाया, जैसे सट्टा, जुवा और तरह की बात या केवल जो धन सम्पन्न होने पर लोग इज्जत, प्रशंसा आदिक के प्रयत्न किया करते हैं उन्हें निद्रा नहीं आती। निद्रा आती है उनको जो बड़ा शारीरिक और मानसिक परिश्रम करते हैं। निद्रा नामक प्रकृति के उदय से ये मनुष्य, पशु-पक्षीसभी सोते हैं। ये पेड़-पौधे भी सोते हैं, नींद लेते हैं पर ये अपने ढंग से नींद लेते हैं। आँखें बंद करके जो सो जाय उसी का नाम निद्रा लेना नहीं है। जहाँबाहरी बातों की कुछ भी खबर न रहे उसे निद्रा लेना कहते हैं। तो निद्रा प्रकृति के उदय में नींद आती है, और जीव को ऐसी नींद आती है कि सो लेने पर उसे कोई जगा भी दे तो वह फिर सो जाता है। जैसे बहुत से बच्चों को देखा होगा। कहीं शास्त्रसभा वगैरह में बैठे हैं, बच्चे को भी साथ में ले आये, बच्चा सो गया। शास्त्र खतम होने पर उसने उस बच्चे को उठाया और जरा सा ढीला कर दिया तो वह झट जमीन में पड़कर फिर सो जाता है। तो नींद लेकर भी नींद लेवे उसे निद्रा कहते हैं, उसमें बेहोशी अधिक है। प्रचला प्रकृति के उदय में जीव के प्रचला बनती है। जैसे कुछ सोये हुए और कुछ जगेहुए बैठे हैं, चलते-चलते भी सोते जाते हैं, यहाँ भी जैसे कुछ शास्त्र भी सुनते जाते हैं और कुछ सोते भी जाते हैं, उनसे अगर बीच में कुछ पूछो टोको तो एक-आध बात बता भी देते हैं। तो प्रचला प्रकृति के उदय में जीव को ऐसी निद्रा आती है कि कुछ निद्रा है, कुछ जगा हुआ है। प्रचला प्रकृति के उदय में नींद के अलावा जीव के अंग चलायमान होते हैं, जैसे दाँत कटकटाना, मुख से लार बहना आदि। उसे कहते हैं प्रचला-प्रचलादर्शनावरण। अन्तिम ज्ञानावरण है सत्यानगृद्धि दर्शनावरण। सोने के पहिले कोई काम करे और सोकर जगने के बाद पता

न हो कि मैंने क्या किया था जैसे सोते हुए में कमरे से उठाकर इस तरह से किवाड़ खोलकर दर्शन कर आये और फिर बिस्तर में पड़ कर सो गया और जगने पर उससे आकर कोई कहे कि तु मंदिर गए थे? और वह कहे कि हमें कुछ ध्यान नहीं हे तो उसे सत्यानगृद्धि दर्शनावरण कहते हैं। सत्यानगृद्धि दर्शनावरण में निद्रा की विशेषता है। इस प्रकार 9 कर्मों के दर्शनावरण होते हैं जो आत्मा के दर्शनगुण को प्रगट नहीं होने देते। ये ही दो गुण जीव में मुख्य हैं—ज्ञान और दर्शन। जीव में प्राण ये हैं—ज्ञान और दर्शन। शरीर में बस रहे हैं शरीर के अंग भी ऐसे हैं कि दब जायें तो प्राणान्त हो जायें। आयु है, श्वास है, ये प्राण बताये गए हैं पर ये आत्मा के कुछ नहीं हैं। वृद्ध हालत में शरीर घात में यह प्राणघात करना पड़ता है। पर जीव का वास्तविक प्राण तो ज्ञान और दर्शन है, जिस प्राण के नष्ट हो जाने पर चीज खतम हो जाती है। तो बात कहते हैं आत्मा में ज्ञानदर्शन न रहे तो जीव के साथ ही न रह सका फिर जावे क्या? जहाँ ज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं है, वह ज्ञान है क्या? ज्ञानदर्शन प्राण बिना जीव के कभी नहीं होते। इसलिए जीव को अमर कहा है। तो यह ज्ञानतत्त्व कभी नष्ट नहीं हो सकता। शरीर छूट जायगा, अगले भव में चला जायगा पर ज्ञानदर्शन साथ जायगा और मुक्त होने पर भी ज्ञानदर्शन साथ जायगा। कर्म ये सब यही रह जायेंगे और ज्ञानदर्शन प्राण कभी नष्ट नहीं होते। ऐसा जानता है ज्ञानी पुरुष, इस कारण उसे मरण का भय नहीं रहता। जो अपने स्वरूप पर दृष्टि देगा और स्वरूपमात्र अपने को मानेगा उसको मरण का भय नहीं होता, और मरण का भय प्रायः सभी संसारी जीवों के लगा है। कोई मरता नहीं है, मरण नहीं चाहता। और मरना है इसलिए उसका दुःख है। ज्ञानी जीव तो यह जानता है कि मेरा तो मरण नहीं है। मैं सद्भूत वस्तु हूँ, सदाकाल रहूँगा, मेरा स्वरूप ज्ञानदर्शन है वह सदा रहेगा, मेरा घात नहीं है, ऐसा जानकर ज्ञानी जीव मरण का भय नहीं करता। उन्हीं ज्ञानदर्शन का विकास का आवरण करने वाले ये दो प्रकार के ज्ञान बनाये गए। ज्ञानावरण और दर्शनावरण इनके क्षय से पूर्ण ज्ञान पूर्ण दर्शन प्रकट होता है।

श्लोक-1652

वेदनीयं विदुः प्राज्ञा द्विधा कर्म शरीररिणाम्।

यन्मधूच्छिष्टतद्वयक्त—शस्त्रधारासमप्रभम्॥1652॥

इस जीव के साथ जो 8 प्रकार के कर्म लगे हैं उनमें से तीसरा वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म न तो पूरे तौर से अघातिया कर्म है। या यों कह लेना चाहिए कि वेदनीय कर्म घातिया की तरह भी काम करता है। वेदनीय कर्म के उदय से दो प्रकार की बातें होती हैं—एक तो सुख-दुःख के हेतुभूत सामग्री का मिलना यह तो हुआ

अघातिया काम और एक है इन्द्रियद्वार से सुख अथवा दुःखरूप वेदन करना यह हुआ घातिया कर्म की तरह का काम। जो आत्मा के गुणों पर प्रहार करे वह तो है घातिया कर्म और जो आत्मा के गुणों पर प्रहार तो न करे, किन्तु घातिया कर्म जैसा फल दे सकें उस प्रकार से बाह्य साधन मिलाहै वह अघातिया कर्म का काम। वेदनीय कर्म दो तरह का है—एक साता दूसरा असाता। साता वेदनीय के उदय से इन्द्रिय द्वारा सुख का वेदन होता है और साता वेदनीय के उदय से इन्द्रिय द्वारा असाता का उदय होता है। इसके लिए दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे शहद लिपटी तलवार की धार को कोई चाटें तो उसमें कुछ सुख है और बाद में दुःख है। साता वेदनीय के उदय से किंचित सुख होता है किन्तु यह सुख क्षोभ से भरा हुआ है, क्योंकि वह बाह्यसाधन का आश्रय करके सुख माना गया है। इस साता वेदनीय का उदय हो, शरीर की इन्द्रियाँ सब सही काम करने वाली हों, उन इन्द्रियों में बल भी हो, साथ में इच्छा हो और बाह्य साधन मिले अनुकूल। इतनी बातें बनने पर किञ्चित सुख होता है। तो जो सुख इतना पराधीन है उस पराधीन सुख में क्षोभ ही भरा हुआ है, शान्ति नहीं बसी है। लेकिन संसारी जीव चाहते हैं, उनकी कल्पना के अनुसार साता वेदनीय के उदय से सुख हुआ, असाता वेदनीय के उदय से दुःख हुआ। दुःख के साधन जुटाते हैं इसमें तो आकुलताएँ ही आकुलताएँ बसी हैं। 9 वेदनीय कर्म परमार्थ से तो जीव की आकुलता के कारणभूत हैं और संसारी जीवों की घात के अनुसार साता वेदनीय तो सुख देने वाला है और असाता वेदनीय दुःख स्वरूप वाला है। यद्यपि कोई भी कर्म इस अपनी परिणति को आत्मा में नहीं देता इसलिए ये कर्म आत्मा को कुछ भी नहीं देते। वेदनीय कर्म भी केवल अपनी स्थिति अनुभाग में रहते हैं। रूपरसगंधस्पर्शरूप परिणमता है, आत्मा में कुछ नहीं करता, पर बन्धन है ऐसा। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है ऐसा कि वेदनीय कर्म के अनुदय के काल में यह जीव स्वयं सुख अथवा दुःखरूप वेदन करता है। यों निमित्त दृष्टि की मुख्यता से यों कहा जायगा कि साता वेदनीय उसे कहते हैं जो जीवों के सुखस्वरूप हो और असाता वेदनीय उसे कहते हैं जो जीवों को दुःख दे। अब आगे यह बतला रहे हे कि ये सुख दुःख किस-किस आश्रयों को पाकर होते हैं?

श्लोक-1653

सुरोरगनराधीशसेवितं श्रयते सुखम्।

सातोदयवशात्प्राणी संकल्पानन्तरोद्भवम्॥1653॥

यह प्राणी साता वेदनीय के उदय से तो देवेन्द्र, नागेन्द्र, धरणेन्द्र, आदिक ऐसे सुखों को प्राप्त हो जाते हैं जो एक संकल्पमात्र करने से तुरन्त हाजिर होता है। यह साता वेदनीय के उदय का प्रभाव बताया

गया है। साता वेदनीय के उदय के अधिकारी है तीर्थकर, चक्रवर्ती ये साता वेदनीय के उदय के मुख्य आश्रय हैं। यद्यपि ऐसा कभी भी सम्भव नहीं है चाहे तीर्थकर भी क्यों न हों कि जिस काल में जो इच्छा जगे उसी काल में इच्छा की बात तुरन्त हो जाय। वस्तुस्वरूप ऐसा है, सिद्धान्त ऐसा है कि इच्छा के काल में भोग नहीं होता क्योंकि जिसकी इच्छा की जा रही है वह चीज उसी समय यदि सामने है तो उसके इच्छा का भाव ही नहीं होता है। जैसे किसी की इच्छा है कि 500) की आज आय बने, कभी और सामने 500) की आय तुरन्त हो रही हो तो कौन इच्छा करेगा कि 500) की आय हो? वह परिणति नहीं बनती, और यदि बनाये यह तो दूसरे 500) की इच्छा का भाव बनेगा जो इस समय मौजूद नहीं है। यदि चीज सामने हो भोग का साधन तो उसकी इच्छा नहीं होती है। वहाँ तो भोगों का परिणाम रहता है। एक वेदन ही रहता है। और जिस काल में जो इच्छा की जा रही है, इच्छा में जो बात बसायी जा रही है उस इच्छा के भाव के समय में वह चीज हाजिर नहीं है। तो ऐसा कोई पुण्यवान पुरुष नहीं है संसार में कि इच्छा के समय में ही भोग प्राप्त हो। इच्छा का समय और है भोग का समय उसके बाद का है। लेकिन बहुत ही जल्दी भोग के साधन जहाँ इच्छा करके मिल जायें तो वहाँ यों ही कहा जायगा कि यह ऐसा पुण्यवान जीव है कि इच्छा करते ही ये सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। एक पुण्य का माहात्म्य दिखाने के लिए यों कहा गया है ऐसी पुण्यवान जीवों में प्रसिद्धि है, असंख्याते देव, देवेन्द्र जिनकी सेवा करते हैं सब जिनके हुक्म में रहते हैं। यही देख लो, कोई राजा महाराजा हो तो उसके साथ कितना ठाठ रहता है और उसकी इच्छा की पूर्ति के कितने साधन साथ लगे रहते हैं, तो जब यहाँ मनुष्यों में ही एक विशिष्ट ठाठ देखा जाता है जो असंख्यात देवों के द्वारा सेविन इन्द्र हैं, जिनके अनेक वैभव हैं और जिनके खाने-पीने का भी कोई दुःख नहीं है, न साधन जुटाने पड़ते हैं क्योंकि उनके कवलाहार है ही नहीं, इच्छा करते ही कंठ से अमृत झरता है और तृप्त हो जाते हैं, ऐसे बड़े सुख के धनी धरणेन्द्र, नागेन्द्र, देवेन्द्र आदि और मनुष्यों में चक्रवर्ती जो साधारण जनों में न पाये जायें ऐसे होते हैं, और तीर्थकर को ले लीजिए। जब तक उनके बीच रहते हैं तब तक तपश्चरण नहीं किया, यों ही गृहस्थावस्था में रहते हैं, उस काल में तीर्थकर जो कुछ भी इच्छा करते हैं, इन्द्र उनकी सेवा में रहते हैं और तृष्णा की पूर्ति करते हैं लेकिन इन सब महान पुण्यवान आत्माओं के भी इच्छा के काल में भोग प्राप्त नहीं होते लेकिन फिर भी देखो साता वेदनीय कितना प्रबल है, कितना औपाधिक कार्य है कि संसारमें ऐसे बड़े-बड़े सुख भोग इच्छा करते ही प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा सब कथन जानकर अज्ञानी तो मन में चाह बढ़ा लेगा कि ऐसा ही वैभव प्राप्त हो, ऐसा ही पद मिले, लेकिन ज्ञानी जानता है कि इन सब सुखों से शान्ति नहीं है बल्कि अशान्ति मिलेगी। कितना शारीरिक दुःख है, कितना बाह्यसाधनों की कमी में हैरानी है कि ऐसा कोई दुःख आ जाय तो उस दुःख में ज्ञानी पुरुष शान्ति धारण कर सकता है। और करने वाले ज्ञानी सुख में भी कर सकते हैं, मगर प्रायः करके इन सुखों की प्राप्ति के समय में जीव को शान्ति नहीं मिलती, तृष्णा लगी रहती है और तृष्णा के कारण वर्तमान में मिले हुए भोग भी नहीं भोगे जा सकते। आगे की धुन लगी हुई है इसलिए वहाँ

अशान्ति ही मिलती है। ऐसा साता वेदनीय कर्म इस जीव के साथ लगा है इसे यों कह लीजिए कि तृष्णा बढ़ाने के लिए साता वेदनीय का बड़ा सहयोग है। गरीब आदमी जंगल में रहने वाले भील आदिक यदि तृष्णा करेंगे तो 100, 50 रुपये की करेंगे, उनके यह इच्छा न बनेगी कि मैं करोड़पति बन जाऊँ अथवा राजा बन जाऊँ, पर एक पुण्यवान पुरुष जो अपने गद्दे तक्के पर बैठा ही बैठा लाखों रुपयों की आय का हिसाब रखता है उसके तृष्णा बढ़ेगी तो करोड़ों, अरबों पर दृष्टि जायगी। तो साता वेदनीय का उदय तृष्णा बढ़ाने में बहुत सहयोग देता है। और जीव को दुःख है केवल तृष्णा का। सन्तोष नहीं है इसलिए दुःखी है। प्रत्येक मनुष्य को देखो चाहे राजा हो, चाहे रंक, सभी सन्तोष न होने के कारण दुःखी हैं। जो रोज-रोज रोटी मांगते हैं। रोटी मिल भी जाती है फिर भी उन्हें धैर्य नहीं है कि चलो आज रोटी खा ली, कल फिर मांगकर खा लेंगे। तो यों साता वेदनीय का उदय जीव के लिए हितकारी नहीं है। दूसरा है असाता वेदनीय का उदय। अब उसके विषय में सुनिये।

श्लोक-1654

असद्वेद्योदयात्तीव्रं शारीरं मानसं द्विधा।

जीवो विसह्यते दुःखं शश्वच्छ्वभादिभूमिषु॥1654॥

असाता वेदनीय के उदय से शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःख होते हैं। दुःख होते हैं दो प्रकार के—शारीरिक और मानसिक। दुःखों को जोड़ लीजिए, उन दोनों का बंटवारा इन दो में मिलेगा—एक शारीरिक दुःख और दूसरा मानसिक दुःख। सभी दुःखों पर दृष्टि डालिए। शरीर में रोग हो, फोड़ा फंसी हो, बुखार आदिक हो, चोट लग जाय, कमर दुःखने लगे, ऐसी जब स्थिति बनती है तो उनके शारीरिक दुःख है और जहाँ मन के विचार से दुःख बनता है ये सब मानसिक दुःख हैं। जैसे अपमान हो गया, निन्दा हो गयी, सम्मान न हो सका अथवा किसी रिश्तेदार से बिगाड़ हो गया, या किसी इष्ट की मरणासन्न स्थिति हो गयी, या कोई दुःख ऐसे हो गए कि जिन दुःखों से अपने शरीर का तो सम्बंध है नहीं, अपने शरीर पर कोई प्रहार हुआ नहीं और मन से ही विचार किया कि दुःख बढ़ा लिया, कोई बड़ी तीव्र वेदना हो जाय तो उसका दुःख देखकर पिता को जो क्लेश होता है वह शारीरिक है या मानसिक है? शारीरिक दुःख नहीं है। यदि घबड़ाकर, बड़ा दुःखी होकर अपने सिर में ढेला मार ले उस पुत्र के दुःख को देखकर, सिर में दर्द हो गया वह तो है शारीरिक और उस पुत्र के प्रति जो उसने विकल्प बनाये वह है मानसिक वेदना। असाता वेदनीय के उदय में दो प्रकार के दुःख होते हैं—एक शारीरिक और दूसरा मानसिक। तो इन दुःखों को दुःखरूप से

भोगने वाले हैं नारकी जीव। नारकियों का शारीरिक दुःख ऐसा है कि एक नारकी दूसरे नारकी को देखकर तीव्र प्रहार करता है, उन पर अनेक आक्रमण करता है। शरीर के तिल-तिल बराबर टुकड़े हो जाते हैं, इतने पर भी दुःखों से छुटकारा नहीं हो पाता। शरीर के परमाणु-परमाणु मिलकर फिर शरीररूप बनजाते हैं। ऐसा उनका वैक्रियक शरीर है। वे नारकी दूसरे नारकी को अधिक से अधिक वेदना पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं, कोल्हू में पेले, आग में जला दें, हथियारों से शरीर के खण्ड-खण्ड कर दें, सर्प, बिच्छू आदि बनकर शरीर को डस लें, अनेक प्रकार के कष्ट भोगते हैं वे नारकी जीव। एक जीव दूसरे जीव पर आक्रमण करे तो क्या वह बिना मानसिक दुःख के कर सकता है? मारने वाले नारकी को मानसिक दुःख अधिक है और मरने वाले शारीरिक दुःख अधिक है, पर वहाँ किसी नारकी को ऐसा अधिकार नहीं दिया गया कि यह मारने वाला नारकी है और यह मरने वाला नारकी है। तो नरकों में रहने वाले जीवों को शारीरिक दुःख और मानसिक दुःख ये दोनों होते हैं। अथवा असाता वेदनीय का तीव्र उदय है। फिर नारकियों के अलावा अब यहाँ मध्यलोक में देख लीजिए, मध्यलोक के मनुष्यों का दुःख देख लीजिए। शारीरिक दुःख तो लगे हुए हैं। अभी देखिये—दोनों समय रसोई बनाते हैं पेट भर खाते भी हैं, ऐसा किए बिना गुजारा भी नहीं होता, शारीरिक दुःख भी अनेक साथ में लगे हुए हैं। मानसिक दुःखों की बात देखो—सभी सबेरा होते ही नहाते धोते हैं, पूजन चंदन आदि के कार्य करते हैं, बिना नहाये, बिना मंदिर दर्शन किए खाना नहीं खाते हैं। यात्रा का भाव मन में रखते हैं, नहाते धोते हैं, दोनों बार खाना बनाते हैं, खाते हैं, ऐसा किए बिना गुजारा भी कैसे हो? यह कितना साता वेदनीय का उदय है, हालांकि भोजन मिलता है, और खाते हैं, पर वह साता वेदनीय के उदय में मिलता है। मगर अशान्ति देखिये—कितनी उसमें भरी पड़ी हुई है? कितनी अशान्ति इन मनुष्यों ने जान बूझकर बढ़ाया है। जो लोग संयमी बने हुए हैं उनको कुछ शान्ति रहती है। कोई भी व्यक्ति हो, यदि वह एक ही बार खाने का नियम रखता है तो उसे बड़ी धीरता है। एक बार भोजन होने के बाद फिर तो कोई क्षुधा का क्लेश नहीं है। और खाने के बाद के क्षुधा सम्बंधी क्लेश कल्पना बनाने के होंगे। संयम के साथ-साथ सच्चा ज्ञान भी चाहिए, नहीं तो कोरे असंयम से वह अपनी अशान्ति और बढ़ा लेगा। संयम के बिना बहुत अशान्ति बढ़ जाती है। तिर्यञ्चों में देखो तो शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःख बराबर चलते हैं। घोड़ा, गधा, बैल, भैंसा आदि जानवरों को देखो—ये कितना-कितना बोझ भी लाद लेते हैं, कंधे सूझ जाते हैं और पिटते भी रहते हैं उनको ऐसी दशा में देखकर क्या हम आपके मन में यह नहीं आ जाता कि ये बेचारे क्या सोचते होंगे? बेचारों की नाक भी छिदी हुई, नकेल पड़ी हुई है, कहीं जा भी नहीं सकते, चाहे कितना ही मारे वह तो मालिक के हाथ बात है। तो कितनी-कितनी पराधीनताओं के संताप ये जीव सह रहे हैं? इस असाता वेदनीय के उदय से ये शारीरिक और मानसिक दुःख होते हैं। देवों के देखो तो शारीरिक दुःखों की बात तो हम कुछ नहीं कह सकते। होते होंगे कुछ न कुछ प्रकार के दुःख, मगर स्थूल रूप से जैसा कि वर्णन सुनने में आया है, उसके माफिक ऐसा विदित होता है कि शारीरिक दुःख की बात उनके नहीं घटती। जब भूख

लगती है तो कंठ से अमृत झरता है और उससे वे तृप्त हो जाते हैं। ठंड गरमी की वेदना भी उनके नहीं होती। बिच्छू सर्प आदिक जानवरों की बाधाएँ भी उनके नहीं होती, उनका वैक्रियक शरीर है, पर मानसिक दुःख इतना होता है कि जितना मानसिक दुःख मनुष्यों के भी नहीं होता। उन इन्द्रादिक देवों की आज्ञा में अनेक देव होते हैं, वे देव उनकी आज्ञा मानकर अपने को धन्य समझते हैं। तो ऐसे इन्द्रों के सुखों का क्या ठिकाना, लेकिन मानसिक दुःख इतने पड़े हुए हैं कि उनकी उपमा देने के लिए यहाँ मनुष्यों में कोई नहीं मिलता। बड़ी चिन्ता में पड़े हुए हैं, मन काबू में नहीं है। मनुष्यों में तो किसी मनुष्य को अगर अधिक मानसिक दुःख हो जाय तो कहो हार्ट फैल हो जाय मगर उन देवों के इतना मानसिक दुःख बढ़ जाता है पर उनका हार्ट फैल नहीं होता। मानसिक दुःख मनुष्यों के मानसिक दुःख से देवों में अधिक हैं। ये वेदनीय कर्म जीव के स्वरूप नहीं हैं और वेदनीय कर्म के उदय से जो बात इस जीव के बनती है वह भी इस जीव का स्वरूप नहीं है। इससे निराला केवल ज्ञानमात्र चैतन्यमात्र यह मैं अंतस्तत्त्व हूँ, आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि ज्ञानी पुरुष रखता है।

श्लोक-1655

दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टिः साध्वी विलुप्यते।

तद्विलोपात्रिमज्जन्ति प्राणिनः श्वभ्रसागरे॥1655॥

अब चौथा कर्म है मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्म के मूल भेद दो हैं—एक दर्शनमोहनीय और एक चारित्रमोहनीय। इनमें से दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन लुप्त हो जाता है। और सम्यग्दर्शन के लुप्त हो जाने से यह जीव नरक में उत्पन्न होता है। मिथ्यात्व कर्म उसे कहते हैं जिसके उदय में जीव मिथ्यात्व परिणाम में बसे। सम्यग्दर्शन हो सका कि रंचमात्र भी वहाँ उपाधि नहीं। परपदार्थों को अपना मानना, परपदार्थों को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार आत्मारूप से मानना और रागद्वेष काम क्रोध आदिक विभावों को अपनाना, इनसे अपना हित समझना ये सब मिथ्यात्व के कुभाव हैं। दर्शनमोहनीय के तीन भावों में प्रबल है मिथ्यात्व कर्म, जिसके उदय से इस जीव को अपने हित का मार्ग नहीं सूझता निरन्तर बाह्यपदार्थों पर दृष्टि बनी रहती है। इन बाह्यपदार्थों के प्रति मोहभाव न रहे तो आत्मा में आनन्द ही आनन्द है ही, क्योंकि आनन्द आत्मा का स्वभाव है। तो आनन्द के रहने में कोई आश्चर्य नहीं, आनन्द तो अपने आत्मा के स्वरूप की चीज है। आनन्द तो जीव में अपने आप है। परपदार्थों में दृष्टि लगी होने से, उन्हें ही अपना शरण मानने से ये संसारी जीव निरन्तर परेशान रहते हैं। जिनेन्द्र भगवान की बड़ी करुणा हुई कि जिनकी दिव्यध्वनि से प्राणियों

को उपदेश मिलता है और उसे वे सुनकर अपना कल्याण कर लेते हैं। अपने स्वरूप को जानना और चैतन्यमात्र ही में हूँ अन्य कुछ नहीं हूँ—ऐसी श्रद्धा करते हुए और ऐसा ही जानने मानने में लगे रहना, उस ही में उपयोग बनाये रहना इसी को कहते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीव अनादि काल से कर्मोदय के कारण संसार में जन्म-मरण करते चले आ रहे हैं। इन कर्मों को नष्ट करने का उपाय है अपने आत्मा के स्वभाव को दृष्टि में लेना और इस आत्मा को 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति बनाये रहना, इस ही उपाय से कर्म अपने आप नष्ट हो जायेंगे। और इस ही उपाय से सारे संकट टल जायेंगे।

श्लोक-1655

दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टिः साध्वी विलुप्यते।

तद्विलोपात्रिमज्जन्ति प्राणिनः श्वभ्रसागरे॥1655॥

जीव के साथ 8 प्रकार के कर्म बंधे हैं। उन सब कर्मों में प्रबल कर्म है मोहनीय कर्म। मोहनीय कर्म है तो सब बाकी के कर्म मौज मानते हैं और जहाँमोहनीय कर्म नष्ट हुआ तो सभी कर्म शिथिल हो जाते हैं, अपनी हार मान बैठते हैं। इसीलिए सभी कर्मों का राजा मोहनीयकर्म का विकास है जब तक अन्य किसी भी कर्म की सत्ता नष्ट नहीं होती और मोहनीयकर्म सत्ता नष्ट हुई कि धीरे-धीरे सब कर्मों की सत्ता नष्ट हो गई। मोहनीयकर्म है दो प्रकार का—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय तो उसे कहते हैं जो आत्मा के सम्यक्त्व गुण को मोहित कर दे, नष्ट कर दे। आत्मा में सम्यग्दर्शन पैदा न हो सके, जिस कर्म के उदय से उसका नाम है दर्शन मोहनीय और जिस कर्म के उदय से आत्मा चारित्र, तप, व्रत, संयम अपने आपमें मग्न होना ये चारित्र न पाल सके उसे कहते हैं चारित्रमोहनीयकर्म। सो दर्शनमोहनीय के 3 भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। असली तो मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व उसे कहते हैं जिसके उदय से जीव में मिथ्यादर्शन बने। बंधता मिथ्यात्व ही है जीव में लेकिन जब अच्छा परिणाम होता है तो मिथ्यात्व कर्म कुचल दिया जाता है। जैसे जंती से मूंग को या चना को दल देवे तो वहाँ 3 चीजें प्रगट होती हैं—कोई चना साबुत निकल आता, कुछ दाल निकल आती और कुछ चूरा हो जाता है। इसी तरह से जब सम्यग्ज्ञान का परिणाम होता है उपशम सम्यग्दर्शन के प्रारम्भ होते ही मिथ्यात्व कर्म दल दिया जाता है सो उसके तीन हिस्से हो जाते हैं तो कुछ तो बराबर मिथ्यात्व ही रह जाता है और कुछ मिथ्यात्व के दो दल हो जाते हैं। सम्यग्मिथ्यात्व याने सम्यक्त्वरूप परिणाम होने का नाम है दो दल हो जाते हैं। कुछ का चूरा हो जाता है। जो चूरा हो गया है मिथ्यात्व का उसे कहते हैं सम्यक्त्वमोहनीय। इन तीनों के अलग-अलग काम हैं। मिथ्यात्व का

काम है सम्यग्दर्शन को रंचमात्र भी प्रकट न होने देना और जो-जो दल हैं याने सम्यक्त्व है उसका काम है जीव में सम्यक् और मिथ्यात्व रूप परिणाम बनाये रहना, न पूरा सम्यक्त्व है, न पूरा मिथ्यात्व है। और सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का काम है जो जीव के भेद बनाता है कि सम्यग्दर्शन तो रहे पर उसमें चल मलिन अगाढ़ दोष उत्पन्न करे। जैसे बूढ़ा आदमी चलता तो खूब है पर लाठी की वजह से चलता है, लाठी की वजह से वह बूढ़ा गिरता तो नहीं है पर चल मल होता है, ऐसे ही सम्यग्दर्शन में दर्शन मोहनीय का काम हुआ आत्मा के सम्यक्त्व का लाभ न होने देना। यह जीव के साथ अनादि काल से बंधे हुए हैं जिसके कारण हम आप सब बरबाद होते चले आ रहे हैं। जिस भव में गए उसी भव में जो परिजन मिल गए उनमें मोह किया, पर उनसे मिला कुछ नहीं। मरने के बाद तो फिर उनकी कुछ खबर भी नहीं रहती। तो मिथ्यात्व के उदय में यह जीव अब तक बरबाद होता चला आया। सो वास्तविकता वहाँ भी है कि कर्म का जो उदय है वह निमित्त मात्र है, मगर जीव खुद अपने में भूल कर डालता है। परपदार्थों की ओर दृष्टि लगाकर अपने को बरबाद कर रहे हैं।

श्लोक-1656

चारित्रमोहपाकेन नाङ्गिभिर्लभ्यते क्षणम्।

भावशुद्धया स्वसात्कर्तुं चरणस्वान्तशुद्धिदम्॥1656॥

अब मोहनीय कर्म का दूसरा भेद है चारित्र मोहनीय कर्म। इसके उदय से यह प्राणी चारित्र की शुद्धता को प्रकट नहीं कर पाता। चारित्र का जो मोहनीय कर्म विध्वंस करे उसे चारित्रमोह कर्म कहते हैं। जैसे बहुत से लोग प्रश्न करते हैं कि हम जान तो सब गए पर उसमें हम मन क्यों नहीं लगा पाते तो उत्तर उसका यह है कि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है। मानो प्रतीति सहित जान गए हों तो सम्यग्दर्शन हो गया मगर अभी रागद्वेष लगे हुए हैं जिससे कि यह पथ में नहीं लग पाता। जिस पथ को हम सामान्य रूप से समझें तो रागद्वेषमोह ये तीनों जीव की बरबादी के कारण हैं। सो मोह तो बनता है दर्शनमोह के उदय से और रागद्वेष बनते हैं चारित्रमोह के उदय से। जब चारित्रमोह का उदय है तो मन शुद्ध नहीं रह सकता। भावशुद्धि नहीं रहती। आत्मा में कुछ भी वैराग्यता का अनुभव नहीं कर पाता चारित्रमोह के उदय में।

श्लोक-1657

लब्धापि यत्प्रमाद्यन्तियत्स्खलन्त्यथ संयमात्।

सोऽपि चारित्रमोहस्य विपाकः परिकीर्तितः॥1657॥

अब इन साधनों से चारित्र भी प्राप्त कर लिया, सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और फिर चारित्र मोहनीय कर्म में अप्रत्याख्यानावरण कषायों ने उनमें चारित्र उत्पन्न किया। अब उन मनुष्यों के प्रति कहलाते हैं कि जो संयम और चारित्र से दुर्लभ हैं। भवभव में भटकने के बाद मुश्किल से तो यह मनुष्यभव मिलता है, श्रेष्ठ भव मिलता है फिर उसमें सम्यग्दर्शन मिलना और फिर साथ ही चारित्र बन जाय तो यह कितनी कठिन बात है? मनुष्यभव में चारित्र ग्रहण कर लिया है और फिर ये कर्म चारित्र को ढके हुए हैं तो यह चारित्र मोह का तीव्र उदय है। चारित्र मोह के तीव्र उदय से यह जीव संयम को भी ग्रहण नहीं कर पाता। कदाचित् संयम ग्रहण कर ले, और उसमें प्रमाद हो तो वह संयमी चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है। तो यह चारित्रमोह इन 25 कषायों का नाम है जो कि लगी हैं कषायें। जब हृदय में कषायें बैठी हैं तो मन स्थिर कहाँ से हो? कषायें दूर हों तो मन को शान्तिमिले, क्योंकि शान्ति का मिलना और कषायों का दूर होना एक साथ होता है। कषायें छोड़े बिना शान्ति मिल नहीं सकती। जो बड़े पुरुष हुए उन्होंने सर्वप्रथम कषायों का परित्याग किया और एक अपने आत्मतत्त्व का ही अभ्यास किया तो उनको निर्वाण प्राप्त हुआ। विषयों में रहकर, घर में बसकर, मोह में रहकर, रागद्वेष में रहकर कोई जीव क्या निर्वाण प्राप्त कर सकता है? निर्वाण तो नाम है अकेले रह जाने का। कैवल्य होने का नाम निर्वाण है। कैवल्य रह गए, खाली रह गए तो यह मैं आत्मा अपने स्वरूप से जैसा हूँ, वैसा ही मात्र खालिस रह गया तो उसका नाम है कल्याण, मोक्ष। तो जहाँ मोक्षमार्ग में लगने का भाव हो वहाँ यह समझना चाहिए कि हम अपने को केवल समझते रहें। मैं सबसे निराला निर्लेप चैतन्यस्वभावमात्र हूँ—इस प्रकार अपने को केवल मान सकें तो उसे निर्वाण की प्राप्ति होगी अन्यथा न होगी। निर्वाण कहते हैं अकेला रह जाने को, तो हम अपने को अभी से अकेला होने की श्रद्धा करें, ज्ञान बढ़ायें और उसकी श्रद्धा बढ़ायें। अज्ञान हटे तो निर्वाण होगा और अगर मोह ममता में ही पड रहे तो संसार में जन्म मरण का चक्र चलता रहेगा। लोग सोचते हैं कि यह मोह बड़ा बलवान है। क्या करें? यह मोह नचाता है हमें नाचना पड़ता है। ऐसा सोचने से तो मोह बलवान रहेगा ही और इसे संसार में भटकायेगा। पर यह बतावो कि अगर मोह बड़ा बलवान है तो क्या ज्ञान बड़ा बलवान नहीं है? अरे ज्ञान सबसे अधिक बलवान है। ज्ञान हो तो यह मोह बैरी क्षणभर में ही ध्वस्त हो जाता है। यह जीव अभी तक मोह बड़ा बलवान है इस तरह के गीत गाता रहा यह गीत न गाया कि यह ज्ञान बड़ा बलवान है। यह ज्ञान समस्त दुःखों से छुटकारा प्राप्त कराकर शान्ति में ले जाने वाला है। यों इस ज्ञान के गीत कोई गाने लगे तो ज्ञान की महिमा बढ़ने लगे। इस मोह के गीत

गाने से तो कुछ भी लाभ नहीं है। अरे मोह तो इस जीव के स्वभाव में है ही नहीं। मोह तो विभाव है। जब जीव अपने स्वभाव को सम्हाले तो यह मोह झट दूर हो जायगा। तो चारित्र मोह के स्वरूप की बात चल रही है कि चारित्र मोह में यह जीव संयम को ग्रहण नहीं कर पाता। कदाचित् ग्रहण कर ले तो चारित्र मोह का तीव्र उदय आये तो वह भ्रष्ट हो जाता है।

25 कषायें चारित्रमोह हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबंधी लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया और अप्रत्याख्यानावरण लोभ, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया व संज्वलन लोभ। यों 16 कषायें हुई और 9 नोकषायें हैं—हास्यरति अरति, आदिक। जो मिथ्यात्व की पुष्टि करे ऐसा क्रोध हो तो वह अनन्तानुबंधी क्रोध है। जो बड़ा घमंड बगराये वह अनन्तानुबंधी मान है। ऐसे ही कोई इस तरह का छल कपट करे जो कि पहचान में न आ सके वह अनन्तानुबंधी माया है। जैसे बगला मछली पकड़ने के लिए कितना मायाचार करके एक पैर के बल पर निश्चलवृत्ति ये खड़ा रहता है तो क्या उस समय वह निष्कपट है? अरे उस समय वह बड़े कपट के परिणाम बनाये है। वह चाहता है कि मुझे शान्त विश्वास करके पक्षीगण मेरे निकट आयें, और जब निकट आयें तो झट उठा लिया। अनन्तानुबंधी माया ऐसी होती है कि दूसरा आदमी पहिचान न सके, उसे सरल ही जानें। तो जो जीव कर्मों के प्रेरे बने अर्थात् मिथ्यात्व की पुष्टि करे ऐसे मायाचार का नाम है अनन्तानुबंधी माया। अनन्तानुबंधी लोभ क्या? जहाँ तीव्र लोभ हो, घर में कोई बच्चा बीमार हो तो कहाँ हजारों का धन उसके पीछे खर्च कर दें, अगर कर्ज लेना पड़े तो कर्ज लेकर लगायेंगे पर अपने धर्म पर कोई संकट की बात आयी हो या धर्म का कोई काम सामने आया हो तो वहाँ कुछ भी खर्च नहीं करते, तो इसे समझ लीजिए कि यह अनन्तानुबंधी लोभ है। धर्म के काम में भी जो लोभ करे सो अनन्तानुबंधी लोभ है या जो मिथ्यात्व की पुष्टि करे उसे कहते हैं अनन्तानुबंधी लोभ। फिर है अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। जो अणुव्रत को प्रकट न होने दे ऐसा जो क्रोध है अप्रत्याख्यान क्रोध, ऐसे ही जो मान, माया और लोभ वगैरह अणुव्रत को प्रकट न होने दें उन्हें अप्रत्याख्यानमान, माया और लोभ कहते हैं। फिर हैं प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ। ये कषायें पहिले के 8 कषायों से कुछ हल्की हैं, इनका अर्थ है कि ऐसी कषायें जो मुनियों का व्रत न होने दें, अणुव्रत तो हो सके पर अभी मिथ्यात्व चल रहा है, अर्थात् संयम नहीं बन पा रहा, असंयम पर चल रहे उसे कहते हैं प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ। संज्वलन कषायें मुनि तक के होती हैं। संयम बराबर बन गया, पर संयम में कभी-कभी कोई दोष उत्पन्न हो जाता है संज्वलन कहते हैं, ऐसे ही संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ होते हैं। जो महाव्रत तो भंग नहीं करता परन्तु यथाख्यात चारित्र प्रकट न होने दे उसे कहते हैं संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ। तो ये 16 कषायें हैं। ये चारित्र मोहनीय के भेद हैं।

9 नोकषायें हैं जैसे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसक वेद। हास्य उसे कहते हैं जिसमें जीव को हंसी आये। कोई लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें हंसी की प्रकृति बनी रहती है। एक ऐसा नौकर था बरुवासागर में सेठ मूलचन्द के यहाँ। सेठ मूलचन्द की सेठानी जब गुजर गयी तो वह नौकर कहीं बाहर जाकर छिपकर बैठ गया। सेठ मूलचन्द ने उसे बहुत ढूँढवाया, खुद भी ढूँढा पर न मिला, उस समय तमाम प्रकार के काम भी थे। वह इसीलिए छुपकर बैठ गया था कि हम उस जगह जायेंगे तो हंसी आयगी। कुछ देर बाद जब सब काम हो गया तब वह नौकर आया। सेठ मूलचन्द पूछने लगे कि तू अभी तक कहाँथा, यहाँ तमाम काम था, तुझे बहुत ढूँढा पर न मिला? तो उस नौकर ने हँसते हुए कहा कि हमारी हँसने की आदत है, कहो हँसी न आये उस जगह पर, यही सोचकर मैं न आया था। उसका हँसना देखकर सेठ मूलचन्द भी हँसने लगे। तो किसी-किसी की हँसने की प्रकृति होती है। और कोई-कोई लोग रति बहुत करते हैं। जैसे कहते हैं कि यह बड़े सुकुमार हैं पर राग बराबर बना हुआ है, किसी के रति की प्रकृति रहती है। दूसरों से द्वेष करना, ईर्ष्या करना, घृणा करना सो अरति प्रकृति का उदय है, जिसके उदय में आत्मा में शोक प्रकृति का उदय हो वह शोक प्रकृति है। किसी-किसी की आदत है कि उनका चेहरा प्रसन्नता में नहीं रह पाता। किसी को बड़ा भय बना रहता है। कोई कल्पना बना लिया उससे भय की अवस्था बनी रहती है। इसी प्रकार किसी चीज को देखकर घृणा करे, जुगुप्सा बनी रहे तो वह जुगुप्सा प्रकृति का उदय है। अपने को पुरुषलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग रूप मानना यह पुरुषलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग प्रकृति का उदय है। इस प्रकार चारित्रमोह की 25 कषायें हैं जिनके कारण यह जीव चारित्र धारण नहीं कर पाता, और कदाचित् इनमें से कुछ कर्मों का मंद उदय हो गया तो ऐसी स्थिति में यह कभी चारित्र भी धारण कर ले, पर ऐसा वेग आता है कि वह इस चारित्र से गिर जाता है। तो यह चारित्र मोहनीय कर्म के कारण जीव की ऐसी अवस्थाएँ हैं, जो अब तक चली आयी हैं। इससे शिक्षा लेनी है कि चारित्र मोह के उदय में ये त्रुटियाँ हो रही हैं। लेकिन सत्य बात वहाँ भी यही है कि कर्म अपनी परिणति से उन त्रुटियों को नहीं कर रहा किन्तु कर्म का उदय निमित्त मात्र है। जीव अपनी परिणति से उसके निमित्त सन्निधान से अपने विभाव परिणाम कर रहा है।

श्लोक-1658

सुरायुरारम्भकर्मपाकात्संभूय नाके प्रथितप्रभावैः।

समर्थ्यते देहिभिरायुरग्रयं सुखामुतस्वादनलोलचित्तैः॥1658॥

कर्मों के सम्बंध में अनेक प्रकार के चिन्तन करना और मुख्यतया कर्मों के फल का चिन्तन करना सो विपाकविचय धर्मध्यान है। उसी प्रसंग में सब कर्मों का स्वरूप बताते हुए इस समय आयुर्कर्म का स्वरूप बतला रहे हैं। तो आयुर्कर्म के चार भेद हैं—देह, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक। आयु कर्म का काम है कि इस जीव को शरीर में रोके रहे, आयुर्कर्म इस जीव को नारकी शरीर में रोके रहे तो उसका नाम नरक आयु है, इसी प्रकार तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदिक शरीर में जो आयुर्कर्म रोके रहे उसका नाम तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि आयु है। तो इन चारों प्रकार के आयुर्कर्मों में जीव उन-उन भवों में बना रहता है। सो उनमें से एक देव आयु तो पुण्य का फल है, जिसके कारण वैभव सामग्री सुख ये सब बराबर उनके बनते रहते हैं और नरक आयु जो है वह तीव्र पाप का फल है, जिसके उदय में नारकियों के ऐसे शरीर में रहना पड़ता तो महादुर्गन्धित हैं और ऐसे क्षेत्र में रहना पड़ता कि जो क्षेत्र भी महान दुर्गन्धित हैं। बताते हैं कि नरकों की भूमिका एक ढेला भी यहाँ आ जाय तो यहाँ सैकड़ों कोश के मनुष्य पशु-पक्षी मर जायें, ऐसी कठिन दुर्गन्धित भूमि है। तो जहाँ क्षेत्र भी कठिन है वहाँ की यह नरक आयु तो कठिन है ही। तो नरक आयु तीव्र पाप का फल है। मनुष्यों को पुण्य का भी फल मिलता है और पाप का भी। ऐसे ही तिर्यञ्चों को भी पुण्य का और पाप का भी फल मिलता है। राजा महाराजावों के घर में बंधे हुए हाथी, घोड़े तथा कुत्ते वगैरह कितना आराम से रहते हैं, काम कुछ नहीं पड़ता, इतना हष्ट-पुष्ट रहते हैं कि शरीर में कहीं हड्डी तक मालूम नहीं पड़ती। यह उनके पुण्य का ही तो फल है। बहुत सी गाय, भैंस भी बड़े आराम में रहती हैं। किसी-किसी पशु को तो भर पेट घास भी नहीं मिलती और किसी-किसी पशु की बड़ी सेवा होती है। तो यह उनके पुण्य का उदय है। मनुष्यों में तो साफ नजर आता। कोई-कोई लोग तो हजारों आदमियों के बीच घिरे रहते हैं, बड़ा सम्मान होता है और कोई-कोई लोग भीख मांगते फिरते हैं। तो ये सब पुण्य पाप के फल हैं। ज्ञानी जीव इन पुण्य फलों को भी कुछ महत्त्व नहीं देता। वह जानता है कि यह पुण्यफल नरकादिक दुर्गतियों में ले जाने का कारण बन जाता है। तो ज्ञानी जीव को पुण्यफल में विश्वास नहीं है, उसे अहितरूप मानता है और पाप के फल में वह ज्ञानी घबड़ाता नहीं है। जैसे पुराने समय में सुकुमाल मुनि को शादी होने के दो तीन दिन बाद तक स्यालिनी ने नोच-नोच कर खाया था तो क्या इसे पाप का फल न कहेंगे? सुकौशल स्वामी को उसकी ही माता ने मरकर सिंहनी बनकर भक्षण किया था तो क्या इसे पाप का फल न कहेंगे? राजकुमार मुनि विवाह करने के एक दिन बाद मुनि हो गए थे तो उनके ही स्वसुर ने सिर में बाढ़ बनाकर कोयला जलाया था, सिर जल रहा था तो क्या इसे पाप का फल न कहेंगे? था वह पाप का फल, पर ज्ञानी पुरुष थे वे, वे तो अपने ज्ञान में ही मग्न रहते थे। तो इतने बड़े उपसर्ग होने पर भी परिणामों में मलिनता नहीं आने दिया। आखिर समस्त कर्मकलंकों से मुक्त होकर उनका निर्वाण हुआ। तो ज्ञानी जीव पुण्य फल को महत्त्व नहीं देते, वे तो आत्मस्वभाव को महत्त्व देते हैं। आत्मस्वभाव की दृष्टि बने तो यह सर्वोत्कृष्ट सार बात है ऐसा ज्ञानी जीव का दृढ़ श्रद्धान है।

श्लोक-1659

नरायणः कर्मविवाकयोगान्तरत्वमासाद्य शरीरभाजः।

सुखासुखाक्रान्तधियो नितान्तं नयन्ति कालं बहुभिः प्रपञ्चैः॥1659॥

जीव के साथ बंधे हुए 8 कर्मों में से आयुकर्म का यहाँ वर्णन चल रहा है। आयु कर्म के 4 प्रकार हैं—नारक आयु, तिर्यञ्च आयु, मनुष्य आयु और देव आयु। जिनमें से देव आयु नाम के उदय से नाना सुखों के साधन वाले शरीर में जन्म होते हैं, वह एक पुण्य का फल है। लेकिन उस पुण्यफल में आसक्त होने वाले जीव अपना इतना बिगाड़कर लेते हैं कि स्वर्ग छोड़कर वे एकेन्द्रिय तक में जन्म लेते हैं। अब इस छंद में मनुष्य आयु के उदय का वर्णन चल रहा है। यह जीव मनुष्य आयु नामक कर्म के उदय से मनुष्यभव को प्राप्त होता है, तो यह मनुष्यभव कुछ तो सुखरूप है, कुछ दुःखरूप है। जैसे कि देव शरीर सुखरूप ही है। भले ही उनको मानसिक दुःख हो जाते हैं, मगर उन देवताओं को शारीरिक दुःख नहीं है। उनका वैक्रियक शरीर है, उनके कंठ से अमृत झरता है, क्षुधा, तृषा रोग आदिक की बाधाएँ नहीं हैं, पर मनुष्यों को बाधाएँ भी हैं और कुछ सुखसाधन भी हैं, वैभव भी हो, आजीविका का साधन भी हो लेकिन शरीर भूत बात को कौन मेटे? जीर्ण होगा ही। चाहे सेठ हो चाहे गरीब हो बाधा तो एक सी होती है। तो मनुष्यभव में एक सुख भी है कुछ तो दुःख भी है। ऐसे नाना प्रकार के प्रपंचों से यह मनुष्य काल यापन होता है।

एक किम्बदन्ती है कि एक बार ब्रह्मा ने 4 जीव बनाये, कोई बनाता नहीं है मगर एक शिक्षा लेने के लिए यह किम्बदन्ती कही जा रही थी। तो वे चार जीव थे उल्लू, गधा, कुत्ता और आदमी। उन चारों को 40-40 वर्ष की आयु दे दी। पहिले उल्लू से कहा जावो तुम्हें पैदा किया।....महाराज काम क्या होगा?....अरे काम क्या, अंधे बैठे रहना, कभी कुछ खाने को मिल गया तो खा लेना।....महाराज काम तो बड़ा बुरा दिया। महाराज उमर?....उमर 40 वर्ष।....महाराज उमर तो कुछ कम कर दो।....अच्छा जावो आधी काटकर 20 वर्ष की उमर कर दी। 20 वर्ष की उमर काटकर अपनी तिजोरी में रख लिया। फिर कुत्ते से कहा जावो तुम्हें पैदा किया। महाराज काम?....अरे काम क्या, जो तुम्हें रोटी का टुकड़ा दे दे उसके आगे पूंछ हिलाना, उसके यहाँ पहरा देना।...महाराज काम तो बड़ा बुरा दिया।...महाराज उमर।....उमर 40 वर्ष।....महाराज उमर तो कम कर दो।....अच्छा आधी काटकर 20 कर दिया।....20 वर्ष की उमर अपनी तिजोरी में रख ली। गधे को बुलाया और कहा जावो तुम्हें पैदा किया।....महाराज काम?....अरे खूब बोझा ढोना और सूखा-रूखा भूसा मिल जाय उसे खा लेना।....महाराज काम तो बुरा दिया। उमर तो कुछ कम कर दो। उसकी भी 20 वर्ष की

उमर कर दी। 20 वर्ष काटकर अपनी तिजोरी में रख लिए। मनुष्य से कहा जावो तुम्हें पैदा किया। महाराज काम? अरे खूब बचपन में खेलना, जवानी में विवाह करना, खूब राज्य भोगना, पुत्रों को खिलाना, मौज करना। काम तो बहुत अच्छा है, पर ऐसी सुख की जगह भेज रहे हो तो कुछ उमर और बढ़ा दो। सो तीनों पशुओं की 60 वर्ष रखी हुई उमर मनुष्य को दे दी। अब मनुष्य की उमर हो गयी 100 वर्ष। इस किम्बदन्ती से शिक्षा क्या मिलती है सो देखो—ईमानदारी की उमर है 40 वर्ष की। सो 40 वर्ष तक कितना आराम में रहता है यह मनुष्य। 40 वर्ष के बाद भी आयी गधे की उमर। सो 40 वर्ष से 60 वर्ष तक गधे की तरह जुटता है। लड़का लड़कियों की शादी ब्याह पढ़ाई लिखाई के पीछे खूब बोझा ढोता फिरता है और जो कुछ रूखा सूखा मिल गया सो खा लेता है। 60 वर्ष से 80 वर्ष तक की उमर है कुत्ते की, सो बूढ़ा हो चला, जिस लड़के ने पूछ की, रोटियाँ खिलायी उसकी बड़ी हूँ हजरी करता है। 80 वर्ष से 100 वर्ष तक हे उल्लू की उमर। सो यह मनुष्य अंधा सा बन जाता है, सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। किसी ने कुछ खिला दिया तो खा लेता है, नहीं तो अंधा सा बना बैठा रहता है। तो यह मनुष्यभव की बात बतला रहे हैं कि यहाँ दुःख-सुखदोनों हैं। प्रपंचों से भरा हुआ यह मनुष्यभव है। छल-कपट, बेईमानी, चुगली, न जाने क्या-क्या नटखट इस मनुष्य में लगे हैं? एक ओर तो यह बात है मनुष्यभव में, दूसरी ओर यह भी बात है कि संयम भी इसी मनुष्यभव में पाल सकते, सम्यक्त्व भी इसी मनुष्यभव में प्राप्त कर सकते। निर्वाण भी इसी मनुष्यभव से पा सकते। ये मनुष्य जो सुख-दुःख भोगते हैं उनमें साता वेदनीय, असाता वेदनीय, मोहनीय इन सब कर्मों का सहयोग है। यह मनुष्य आयुकर्म इस जीव को मनुष्य शरीर में रोके रहता है। आयुकर्म का काम सुख-दुःख देना नहीं है, मगर आयुकर्म का काम है शरीर में इस जीव को रोके रहना। और इसी शरीर के कारण नाना प्रकार के दुःख होते हैं। जैसे नारकीय आयुकर्म के उदय से यह जीव दुःख भोगता है ऐसे ही मनुष्य आयुकर्म के उदय में यह जीव मनुष्य बनता है, और कभी सुख व कभी दुःख भोगता है। ज्ञानी जीव इन सबको परभाव समझता है। यह शरीर से रागादिक भाव ये सब परभाव हैं। संकल्प विकल्प चलना भी परभाव है। ये सुख और दुःख जो कल्पना से माने जा रहे हैं वे भी परभाव हैं, पर तत्त्व हैं। इन सबसे निराला चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व मैं हूँ—ऐसी ज्ञानी की सुधि हे और इसके बल से वह हर्ष की बात में हर्षित नहीं होता और विषाद वाली बात में विषाद नहीं मानता।

श्लोक-1660

चरस्थिरविकल्पासु तिर्यग्गत्षि जन्तुभिः।

तिर्यगायःप्रकोपेन दुःखमेवानुभूयते॥1660॥

तथा प्राणी तिर्यञ्च आयु के उदय में त्रस और स्थावर दो प्रकार के जन्म लेता है। स्थावर 5 प्रकार के हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। ये सब एकेन्द्रिय जीव हैं। पृथ्वी में जीव हैं इसलिए उसे व्यर्थ में नहीं खोदता। यद्यपि वह श्रावक अभी हिंसा का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता क्योंकि घर में है उन्हें कभी मिट्टी चाहिए, कभी जल चाहिए, कभी अग्नि चाहिए, हवा चाहिए, फल-फूल चाहिए तो प्रयोजनवश तो स्थावर जीवों का आरम्भ कर लेता है, मगर जब प्रयोजन न हो कुछ तो बिना प्रयोजन पृथ्वी को नहीं खोदता, जल को नहीं बहाता, अग्नि को नहीं जलाता, हवा को नहीं बहाता पंखा आदिक से और न बिना प्रयोजन वह फल-फूल पत्तियाँ आदि तोड़ता है। बहुत से लोग बिना प्रयोजन ही पृथ्वी को खोदते, नल से जल को बहाते, कूड़ा-करकट वगैरह में अग्नि जलाते, जिसमें कि बहुत से त्रस जीवों की भी हिंसा होती, बिना प्रयोजन ही बहुत-बहुत बिजली के पंखे झेलते और बिना प्रयोजन ही फल-फूल पत्तियों को तोड़ते, पर जो श्रावकजन हैं वे बिना प्रयोजन इन एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा नहीं करते हैं।

एकेन्द्रिय जीव के उदय में यह जीव स्थावर बनता है। कुछ विकास हुआ तो यह त्रस बना, दोइन्द्रिय बना। अब इसके शरीर के ढाचे में कितना फर्क हो गया? एकेन्द्रिय के तो मुख ही नहीं है, वृक्ष हैं, उनकी जड़ें नीचे फँसी हैं। उन्हीं जड़ों से वे आहार ग्रहण कर लेते हैं दोइन्द्रिय जीव के मुख हो गया। एकेन्द्रिय जीव तो स्पर्शमात्र थे पर दो इन्द्रिय में सरना इन्द्रिय भी आ गयी। अब वे रस भी चख सकते। तीन इन्द्रिय में इस जीव को नासिका भी प्राप्त हो गयी, अब वह गंध भी लेने लगा, चार इन्द्रिय में इसे नेत्र भी प्राप्त हो गए, अब तो वह देखने भी लगा और जब पञ्चेन्द्रिय हुआ तो इसे कर्णेन्द्रिय भी प्राप्त हो गयी। अब तो यह वचन भी सुनने लगा, ज्ञान होने लगा। यों उत्तरोत्तर जैसे-जैसे योग्यता बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे यह ऊँची जाति में जन्म लेता है। जब मन प्राप्त हो गया तब तो फिर मन के द्वारा यह जीव विवेक ग्रहण कर सकता, सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर सकता। इस ही मन से हम मोक्षमार्ग बना सकते हैं। तो इस मन का बड़ा महत्त्व है पर लोग चिन्ताएँ कर-करके व्यर्थ ही अपना काल गवाँ देते हैं। कल्याण का साधन जो तत्त्वाभ्यास है उसे इस मन से बना सकते थे। भगवान के शब्द तो एक स्मरण के लिए हैं। प्रभु ऐसे हो गए, उनमें ये-ये गुण थे। ऐसा तो कोई नहीं कहता कि यह जयपुर की बनी मूर्ति है, बड़ी अच्छी बनी है, सफेद रंग की है। अरे वह मूर्ति तो उस महापुरुष की याद दिलाती है उस पुरुष ने इस-इस तरह के समस्त कर्मकलकों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त किया था। तो इस मन से हम बहुत बड़ा कार्य कर सकते थे जिससे कि संसार के संकट सदा के लिए छूट जाते, लेकिन इस मन का उपयोग विषयसाधनों के लिए किया। इस जीवन को व्यर्थ बना दिया। यों त्रस और स्थावर के भेद से तिर्यञ्च जीव 5 प्रकार के हैं। तिर्यञ्चों में भी जिनके मन है घोड़ा, बैल, हाथी, सर्प, नेवला, सूकर आदि ये भी सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। कोई बैल आराम से बैठा हुआ रोश रहा हो और कहो उसे सम्यक्त्व हो जाय। अपने आत्मस्वरूप का दर्शन हो जाय तो उसे भी सम्यक्त्व हो जाता है। बहुत

से पशुओं को ऐसा हुआ भी है। पुराणों में बहुत से कथानक आये हैं ऐसे—नेवला, सिंह, सर्प, सूकर आदिक बहुत से सम्यक्त्व प्राप्त कर चुके हैं। तो मन भी ऐसी ऊँची चीज है लेकिन मोह के वश होकर यह प्राणी मन का सदुपयोग कहाँ करता है? विषय कषायों में ही मन लगा देता है। तिर्यञ्च आयु कर्म के उदय से यह जीव तिर्यञ्चगति में जन्म लेता है, तिर्यञ्चगति में भी ऐसे बिरले ही तिर्यञ्च हैं जो कुछ मन के द्वारा शान्ति का अनुभव कर पाते हैं, प्रायः करके सभी तिर्यञ्च दुःख ही दुःख का अनुभव करते हैं। उनके दुःख को कौन बताये? उन पशुओं की निर्दयता से हत्या कर दी जाती है। सभी को मालूम है। मुलायम चमड़ा निकलने के लिए सुनते हैं कि गर्भवती गाय को बहुत तेज गरम फव्वारा के नीचे खड़ा करके फव्वारा चला देते हैं, सारा शरीर उस गरम जल से जल जाता है फिर उसे बेंतों से पीटते हैं, गाय का बछड़ा भी बाहर निकल आता है, उसे भी पीटकर चमड़ी निकाल लेते हैं। जरा सोचो तो सही कि उनकी क्या दशा होती है? उस चमड़ी को मुलायम बताते हैं, उसके सूटकेश वगैरह बनते हैं। बहुत से लोग कोट, टोपी आदिक बनवाते हैं। बड़े चाव से लोग उनका प्रयोग करते हैं। तो ऐसे चाव से उनका प्रयोग करने वाले लोग भी उस हिंसा को प्रोत्साहन दे रहे हैं। तो उन जीवों के दुःख को कौन कहे, कौन सुनने वाला है, कौन दया करने वाला है? ऐसे नाना तरह के दुःखों को यह तिर्यञ्चगति में जन्म लेकर सहन करता है। यहाँ कर्मों के विपाक का चिन्तन चल रहा है। विपाकविचय धर्मध्यानी पुरुष कर्मों का फल सोच रहा है कि कैसे-कैसे कर्मफलों में यह जीव बना रहता है? यह सब वैराग्य के हेतुभूत चिन्तन है।

श्लोक-1661

नरकायुःप्रकोपेन नरकेऽचिन्त्यवेदने।

निपतन्त्यङ्गिनस्तूर्ण कृतार्तिकरुणस्वनाः॥1661॥

नरक आयु कर्मों के उदय से ऐसे वेदना वाले नरकों के बिलों में जन्म होता है कि शरीर क्षीण करना पड़ता है, जिसकी वेदना कहने में नहीं आ सकती। यहाँ तिर्यञ्चों की मनुष्यों की वेदना तो फिर भी कहीं जा सकती है। वहाँ की भूमि ऐसी है कि उनके छूने मात्र से हजारों बिच्छुवों के डसने बराबर वेदना होती है। आप अंदाज लगा सकते कि वह कितनी बड़ी वेदना होगी। जब एक बिच्छू के डस लेने से दो तीन दिन तक बेहोशी सी छाई रहती है, वेदना सही नहीं जाती है तो हजार बिच्छुवों की वेदना को कैसे बताया जाय? तो जमीन के छूने मात्र से जब हजारों बिच्छुवों के डसने बराबर वेदना है तो फिर वहाँ बसने वाले नारकियों को कितनी वेदना होती होगी, इसकी कहानी कौन कहे? वही पर कुछ देवता लोग अपने परिचितों

से मिलने-जुलने के लिए जाते हैं तो उनको कुछ भी नहीं होता, वे तीसरे चौथे नरक तक चले जाते हैं घूमते-घामते पर उनको किसी भी प्रकार की वेदना नहीं होती। यही देख लो परिवार में कुछ लोग बड़े चिन्तातुर रहा करते हैं और कुछ लोग बड़े मौजमें रहते हैं ऐसे ही नारकियों को तो वहाँ पर घोर विपत्तियाँ हैं, पर उन देवों को वहाँ पर किसी भी प्रकार की विपत्ति नहीं होती। जैसे कभी देखा होगा कि जब कोई बिजली की करेन्ट खुली रह जाती तो वह करेन्ट भीट में अथवा भूमि में भर जाती है तो लोग झट उसे छोड़कर भागते हैं ऐसे ही उन नरकों की जमीन दुःखरूपी करेन्ट से भरी हुई है जिसके छूने मात्र से हजारों बिच्छुवों के डंक मारने बराबर वेदना उत्पन्न होती है। यद्यपि वैक्रियक शरीर देवों का भी है और उन नारकियों का भी है, पर देवों के शरीर में उन नरकों में भी कुछ असर नहीं होता। वे नारकी जीव दूसरे नारकी जीव को देखकर उस पर आक्रमण कर देते हैं और उनके खण्ड-खण्ड कर देते हैं, वे खण्ड-खण्ड फिर पारे की तरह मिलकर शरीररूप बन जाते हैं। इस तरह के घोर दुःख वे नारकी जीव सहन करते हैं। वहाँ ठंड गर्मी की वेदना भी बहुत प्रबल है। वहाँ गर्मी इतनी तेज बतायी है कि मेरु पर्वत के समान लोहा हो तो वह भी गल जाय। ऊपर के नरकों में तो गर्मी की वेदना है और नीचे के नरकों में ठंडी की वेदना है। बैसाख जेठ में जब तेज गरमी पड़ती है तब की वेदना देख लो और पूस के महीने में जब खूब ठंड पड़ती है तब की वेदना देख लो। शीत की वेदना भी गर्मी की वेदना से कम नहीं है। तो वहाँ नरकों में नारकी जीव अतिशय गर्मी व सर्दी के दुःख भोगते हैं। और अपने आप जो कुछ दुःख देते हैं एक दूसरे नारकियों को सो तो देते ही हैं। उनके शरीर वैक्रियक है। वे इच्छा करते हैं कि मैं इसे तलवार से मारूँ तो उन्हें कहीं बाहर से तलवार नहीं लानी पड़ती। उनके हाथ ही स्वयं तलवार बन जाते हैं। तो कितनी तीव्र यातनाएँ हैं उन नारकियों के, सो आप अंदाजा लगा सकते हैं। ये तो उनके खुद के दुःख हैं लेकिन वहाँ देवता लोग उन्हें भड़काने के लिए, फोड़ने के लिए, परस्पर भिड़ाने के लिए पहुँच जाते हैं—वे कहते देखो यह तुम्हारा पूर्वभव का बैरी है, इसने तुम्हारी आँखों में सींक घुसेड़कर आँखें फोड़ना चाहा था। अरे चाहे वह उसकी पूर्व भव की माँहो, आँखों में सींक से अंजन लगाया हो पर वे देव नारकियों को इस तरह से फोड़ते हैं कि वे उसे अपना विरोधी समझकर उस पर आक्रमण कर देते हैं। जैसे यही पर तीतर को तीतर से लड़ाकर अथवा मुर्गे को मुर्गे से लड़ाकर खुशी मानते हैं। ऐसे ही एक नारकी दूसरे नारकी पर प्रहार करके, मार करके खुशी मानते हैं। तो वहाँ है कहाँ सुख? नरक आयु के उदय से यह जीव नरकों में जन्म लेता है। जन्म लेते ही देख लो तुरन्त ही दुःखस्वरूप है। ये नारकी जीव किसी माता-पिता के द्वारा पैदा नहीं होते। ऊपर जो पृथ्वी है सो पृथ्वी में जो विमान हैं, घंटा वगैरह हैं उनसे चीत्कार शब्द करते हुए नीचे गिरते हैं और नीचे गिरकर सैकड़ों बार गेंद की तरह उछलते हैं। तो पैदा होते ही दुःख उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे सैकड़ों वेदनावों से भरपूर नरक गति में नरक आयुर्कर्म से यह जीव जन्म लेता है।

श्लोक-1662

नामकर्मोदयः साक्षाद्धृते चित्राण्यनेकधा।

नामानि गतिजात्यादिविकल्पानीह देहिनाम्॥1662॥

अब नामकर्म की बात कह रहे हैं। नाम कर्म के उदय से जीव को नाना प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। नामकर्म के अनेक प्रकार हैं और वे सब मिलकर 93 हो जाते हैं। नामकर्म की 93 प्रकृतियाँ हैं। उन कर्मों में 93 तरह के शरीरों में विशेषता उत्पन्न करने की प्रकृति है। जैसे लोग कभी किसी पहाड़ पर जाकर, नदी पर जाकर कहते हैं—देखो कितना अच्छा प्राकृतिक दृश्य है, तो उस प्रकृति के मायने क्या? लोग कहने लगते कुदरत है। तो वह कुदरत क्या, प्रकृति क्या तो ये ही नामकर्म की 93 प्रकृति है ये ही कुदरत है। रंग-बिरंगे फूल फूल रहे हैं। रंग-बिरंगी पत्तियाँ लगी हुई हैं। कहीं ऊँचे पर्वत से झरने झर रहे हैं। वह दृश्य बड़ा सुन्दर लगता है और कहते हैं—देखो यह प्राकृतिक दृश्य है। तो यह प्रकृति कौनसी है? वह प्रकृति है कर्म। उसका सीधा अर्थ लगा लें कि देखो उन कर्मों का उदय उन कर्मों का प्रभाव। और मोटे रूप से तो कर्मों के थोड़े भेद बताये, पर इन भेदों के भीतर और भी अनेक भेद हैं। जितनी तरह के रंग हैं, जितनी तरह के स्पर्श हैं उतने ही ये प्रकृति के फल हैं। सो ये प्रकृति की 93 प्रकृतियाँ हैं, इनका क्रम से वर्णन कर रहे हैं।

संसार में जीव के देह की जो नाना जातियाँ दिख रही हैं, नाना तरह के देह देखने में आ रहे हैं ये देह की विचित्रताएँ नामकर्म के उदय का फल हैं। नामकर्म के भेद में प्रबल तो 4 जातियाँ हैं, सो समस्त संसार में जीव के 4 बंटवारे हो गए। कुछ देह मनुष्यगति के कहलाते, कुछ देह देवगति के हैं, कोई नरक गति के और बाकी नाना प्रकार के देह तिर्यश्चगति के हैं। फिर जाति प्रकृति के विकल्प उठे तो ये समस्त जीव 5 जातियों में बँट गए। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचइन्द्रिय। सो जिस-जिस जातिकर्म का उदय है वह जीव इस जाति में है। इनमें से तिर्यश्च में 5 तरह के जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय हैं, पर नरक, मनुष्य और देव में पञ्चेन्द्रिय हैं। तो जो दिख रहे हैं उनमें जो इन्द्रिय की ओरसे विभक्तता है, कोई कानों वाले हैं, कोई आँख वाले हैं, किन्हीं के नाक ही है, आँख कान नहीं हैं, किसी के मुँह तक ही है, किसी के मुँह तक भी नहीं है। पेड़, पृथ्वी, जल आदिक ये जो शरीर की नाना विचित्रताएँ हैं ये जाति नामकर्म के उदय से हैं। यह विपाकविचय धर्मध्यान का प्रकरण है जिसमें ज्ञानी जीव कर्मों के फल का विचार कर रहा है। कैसे-कैसे कर्म के फल हैं। साथ ही वह यह अध्यात्मदर्शन भी कर रहा है कि ये सब फल कर्मफल हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, मेरी चीज नहीं हैं। उनको परभाव समझकर उनसे भिन्न अपने आपके दर्शन का वह यत्न रखता है। अब शरीर की ओर से देखो तो किसी का औदारिक शरीर है, किसी का

वैक्रियक, तैजस और कार्माण शरीर सभी संसारी जीवों के है। आहारक शरीर ऋद्धिधारी मुनियों के ही हो सकता है। ऐसी जो नाना तरह की शरीरों की रचनाएँ हैं वे शरीर नामकर्म के उदय से हैं। इसी तरह उनके अंगोपांग भी होते हैं। दो हाथ, दो पैर, छाती, दो स्तन, नितम्ब। 8 तो हैं ये अंग और अंगुली है, नासिका है, आँख है, कान है ये छोटे-छोटे सब उपाङ्ग कहलाते हैं। तो अंग और उपांगों की रचना एकेन्द्रिय में तो होती नहीं इन अङ्गोपाङ्गों की रचना दो इन्द्रिय से शुरू होती है। अंगोपांग भी देखो तो कीड़ों में कितनी तरह के कीड़े हैं, कितनी विचित्रताएँ उन कीड़ों में दिखती हैं। फिर जितने भेद पाये जाते हैं उतनी ही प्रकृतियाँ हैं, पर उनका संग्रह नहीं किया जा सकता। कितने नाम लिए जायें? तो जो अङ्गोपाङ्ग की विभिन्नताएँ देखी जाती हैं वे अङ्गोपाङ्ग के फल हैं।

अब निर्माण भी देखो सभी का उस-उस ढंग से निर्माण होता है। कैसी प्राकृतिक रचना है कि कुम्हार भी अगर बनाये तो उसमें चाहे कुछ फर्क रह जाय, मगर प्रकृति की रचना देखो कि जहाँजो अंग बनते हैं वे सब बनते रहते हैं। तो यह निर्माण नामकर्म का उदय है। संस्थान देखो तो नाना तरह के हैं। हुंडक संस्थान तो अनगिनते हैं। कैसे पशुओं के संस्थान, कैसे पक्षियों के संस्थान। मनुष्यों में भी देखो नाना प्रकार के आकार बन गए हैं। तो यह आकार संस्थान नाम कर्म में है। हड्डी किसी की बहुत मजबूत है, किसी की बहुत कमजोर है ऐसे जो नाना प्रकार के संस्थान हैं वह संस्थान नामकर्म का फल है। इन सबको ज्ञानी जीव निरखकर दो निष्कर्ष बनाता है—एक तो यह कि ये सब कर्मफल हैं, ये परभाव, ये परतत्त्व मेरे से भिन्न है। दूसरा निष्कर्ष यह निकला कि जीव जरा भी अपनी गफलत करती है तो उसके ऐसे कर्म बंधते हैं कि जिसके उदय में ऐसी नाना दशाएँ होती हैं। विपाकविचय धर्मध्यान में यह ज्ञानी जीव कर्मों के फल का चिन्तन कर रहा है कि कैसे-कैसे कर्मफल होते हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये यद्यपि पद में होते तो हैं अपने आप लेकिन इन देहियों में ऐसा नीयत हो जाते हैं कि जितने मनुष्य है उन सबका स्पर्श एक सा है। मनुष्यों के शरीर मनुष्यों के ढंग के हैं, गाय, भैंस, घोड़ा, गधा आदि के शरीर उनके ढंग के हैं तो ऐसी जो एक रचना है ढंग की यह सब नाम कर्म का फल है। और भी देखो—जब जीव मरता है तो मरने के बाद जब दूसरी गति में जाता है तो रास्ते में गति तो वह मानी जायगी जिसमें जा रहा है पर जीव का आकार रहेगा वह जहाँमरकर जा रहा है। जैसे घोड़ा मरा और मनुष्य बनना है तो मरने के बाद जो चला सो मनुष्य गति का उदय आ गया पर सभी आकर जब तक उस जगह नहीं पहुँचा तब तक घोड़े का आकार रहेगा, आत्मा के प्रदेशों को मोड़ खाकर उसे जाना पड़ रहा है। शरीर में भी ऐसी जो भिन्न रचनाएँ हैं कि शरीर के कोई-कोई अंग अपने को ही दुःख देते हैं। जैसे शेर तथा कुत्ता के दाँत और पंजे ये दूसरों को दुःख देने के कारण बनते हैं, ऐसे ही भैंस के सींग व मनुष्य का तोंद उनको खुद को दुःख देता है। किसी मनुष्य का तोंद बहुत बड़ा हो जाय तो वह खुद ठीक-ठीक बैठ नहीं सकता, शोच आदिक नहीं कर सकता, धोती नहीं पहिन सकता। तो उसका ही पेट उसको

दुःख देता है। जब अपघात नामकर्म का उदय है तो उसके उदय में अपने ही शरीर के अंग अपने को दुःख देते हैं और जब परघात नामकर्म का उदय होता है तो अपने ही अंग दूसरों को दुःख देते हैं।

ये जो जीव के नाना देह दिख रहे हैं सो यह देह नाम नामकर्म का फल है। यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं उस कर्मफल से जुदा एक ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र हूँ। देखो इस स्वभाव की जो पकड़ कर ले उसका तो बेड़ा पार और जो स्वभाव की पकड़ न कर सका वह दुःख भोगता ही रहता है। यह जीव खुद आनन्द का सागर है, खुद सुख का समुद्र है, पर उस लायक यह जीव अपना उपयोग नहीं बनाता। अब यह बतलावो कि आप यहाँ बैठे हैं तो आपके घर की कोई चीज आपके साथ चिपकी है क्या? आपका जहाँ जो धरा है वह तो वही है, पर है, भिन्न है, मकान में मकान है, यहाँ आप अकेले ही हैं। और यहाँ भी यह शरीर आपके साथ नहीं है, वह दूसरा द्रव्य है, आप दूसरे द्रव्य हैं। तो शरीर न्यारा है, आप न्यारे हैं, मेरा फिर स्वरूप हे क्या? जब सबसे निराला हूँ, मैं शरीर व कर्मों से भी न्यारा हूँ मैं, और जो कर्मों के फल गुजर रहे हैं उनसे भी मैं न्यारा हूँ। शरीर से, कषायों से, इच्छा से, विचारों से, सभी तरंगों से जब मैं न्यारा हूँ तो वह मैं और हूँक्या? वह मैं हूँ ज्ञान और आनन्द। उस पर जो रह जाये, विचलित न हो, हाय ये लोग कहाँ जायेंगे, इनकी कौन रक्षा करेगा? ये तो बड़े आज्ञाकारी हैं, ये जो तरंगे उठ रही हैं उसके माहात्म्य से यह आत्मा अपने परमात्मा के निकट नहीं बैठ सकता। और भी जो शरीर में नाना विभिन्नताएँ हैं—जैसे कोई शरीर दूसरों को आपात करने का कारण बनता है जैसे सूर्य विमान यह पृथ्वीकाय शरीर है, यह जीवों को गरमी उत्पन्न करने का कारण बनता है, कोई ठंड पैदा करने का कारण बनता है, जैसे चन्द्र की किरणें शीतलता पहुँचाती हैं। कोई जानवर घोड़ा आदिक भी ऐसे होते कि जिनका शरीर चमकीला होता है, किन्हीं का चमकीला नहीं होता है। तो ये विभिन्नताएँ सब नामकर्म के फल हैं, किसी के श्वासोच्छ्वास कैसा ही है, कोई किसी प्रकार गमन कर रहा है, कोई किसी तरह चलता, कोई किसी प्रकार चलता, पर सबकी गति न्यारी हैं। ये सब विभिन्नताएँ सब नामकर्म के फल हैं। जो कुछ दिख रहे हैं इन सबमें मेरा स्वरूप नहीं है। हालांकि उनमें जीव का सम्बंध न हो तो शरीर की ऐसी रचनाएँ कैसे बन जायें, ये सब हैं पौद्गलिक रचनाएँ। और भी विभिन्नताएँ नजर आती हैं। किसी के एक शरीर का एक ही जीव स्वामी है और किन्हीं के जीव का शरीर एक है और अनन्त जीव उसके स्वामी है। एक श्वास लेता तो वही सब श्वास लेते, एक मरता तो वे सब मरते, एक जन्मता तो वे सब जन्मते। हम आपके शरीर का एक ही जीव मालिक है। किसी का शरीर सुहावना है, किसी का असुहावना है, किसी का शरीर स्थूल है, किसी का सूक्ष्म है, किसी का यश फैला है, किसी का अपयश फैला है। ये नाना तरह की जो रचनाएँ नजर आती हैं ये सब रचनाएँ नामकर्म का फल हैं। ऐसा विपाकविचय धर्मध्यानी जीव कर्मफल का चिन्तन करता है।

श्लोक-1663

गोत्राख्यं जन्तुजातस्य कर्म दत्ते स्वकं फलम्।
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा॥1663॥

गोत्र नाम का कर्म इन दो कर्मों में एक 7 वें नम्बर का भेद है। यह गोत्र कर्म इन प्राणियों को अपना फल क्या देता है कि प्रशंसनीय गोत्रों में जन्म होता है और निन्द्य गोत्रों में जन्म होता है। चाहे उच्च गोत्र में जन्म हो और चाहे नीच गोत्र में जन्म हो—वह गोत्र नामकर्म का उदय है। यहाँ इतना देखना हे कि जो नीच जाति के लोग हैं वे स्वयं अपने को हल्का मानते हैं। किसी का प्रशंसनीय कुल में जन्म होता है, किसी का अप्रशंसनीय कुल में जन्म होता है। यह सब गोत्र आयु नामकर्म का उदय है। बड़ा हुआ तो क्या, छोटा हुआ तो क्या, ये सब कर्मफल हैं। धनी हुआ तो क्या हुआ, निर्धन हुआ तो क्या हुआ, ये सब कर्मफल हैं। आत्मा का स्वरूप तो सबमें एक है। जो दृष्टि उसे ग्रहण कर ले उसका तो संसार पार है और जो ग्रहण नहीं करता वह संसार में ही रुलता रहता है। इन गोत्रों में जन्म किस भाव से होता है? इस विषय में तत्त्वार्थ सूत्र में दो सूत्रों में बताया है।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य,
तद्विपर्ययौ नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।

दूसरे की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, इसमें क्या हुआ कि इसमें खुद को नीच कुल में जन्म लेना पड़ता। कितनी खराब बात है दूसरे की निन्दा करना। परनिन्दा से मिलता क्या है, बल्कि नीच गोत्र का बन्ध होता है। सभी लोग कितना-कितना तो धर्म करते, कितनी-कितनी यात्राएँ करते? कम से कम एक बार तो अपने जीवन में उतार लेना चाहिए कि कैसी ही स्थिति आये—हम दूसरे की निन्दा न करें। पड़ौसियों में गाँवों में अनेकझगड़े इसी बात में हो जाते हैं। तो दूसरे की निन्दा करने से नीच गोत्र में जन्म होता है और दूसरों की प्रशंसा करने से उच्च गोत्र में जन्म होता है। अपने में गुण भी नहीं हैं तो भी अपने गुण बखानना और दूसरे में गुण हैं तो भी उसकी निन्दा करना अथवा उसका कुछ प्रकरण पाकर दूसरे के गुणों को ढाकना और ऐसा वातावरण बनाना, ऐसी कोई कथनी छोड़ना कि दूसरे के गुणों को बखानने का मौका ही न मिलेगा तो यह परिणाम नीच गोत्र में जन्म लेने का कारण है। और इससे उल्टी बात करे तो वह उच्च गोत्र में जन्म लेने का कारण होता है। गुण तो हर एक में हैं। जैसे जो मनुष्य क्रोधी जँच रहे हैं उनमें सारे

ऐब ही ऐब हों ऐसी बात नहीं है, उनमें कुछ गुण भी होते हैं। दूसरे के गुणों पर दृष्टि ही न जाय, केवल उसके दोषों पर ही दृष्टि जाय तो वह तो स्वयं दोषी हो गया। उसकी आदत है कि दूसरों के दोष ही दोष देखे। पर ज्ञानी जीव की प्रकृति ऐसी बन जाती है कि वह अपनी तो निन्दा करता है—मैं बड़ा मायाचारी हूँ, पापी हूँ आदि। और दूसरों की प्रशंसा करता है—देखो ये कितने अच्छे हैं, कितना धर्म कर्म में तत्पर रहा करते हैं आदि। तो इस भावना से वह ज्ञानी पुरुष अगले भव में उच्च कुल पायगा। हाँ उस ज्ञानी पुरुष को अगर दूसरे के दोष छुटाना है वह उससे ही धीरे से कहकर छुटा सकता है। दूसरों के समक्ष उसके दोषों को प्रकट करना योग्य नहीं है। कोई मनुष्य अपने गुण यदि ढाके रहे, प्रकट न करे तो अपने में एक ऐसा भीतरमें गौरव रहता है कि जिससे उसके गुणों में वृद्धि होती है और अपने कुछ भी गुण हों उन्हें मुख से कोई बखाने तो उसके गुणों की वह स्पीड खतम हो जाती है। गुणों में वृद्धि नहीं होती। किसी भी चीज का फल एक बार मिलता है। हममें अगर गुण आ गए और वही हम चार आदमियों में बखानने लगे तो फल मिल चुका। अब आगे फल नहीं मिलने का। जैसे कोई दान दे नामवरी के लिए तो उसका फल उसको मिल चुका, अब आगे फल की आशा न करे। तो इस प्रकार ऐसा जो परिणाम है और भी जो गिरावट के हैं वे नीच गोत्र के जन्म के कारण बनते हैं और जो उत्कृष्टता की है उनके फल में यह उच्च गोत्र में जन्म लेता है।

श्लोक-1664

निरुणद्धिः स्वसामर्थ्याद्दानलाभादिपञ्चकम्।

विघ्नसंततिविन्यासैविघ्नकृत्कर्म देहिनाम्॥1664॥

अब यह आखिरी कर्म अन्तराय है उसके फल की बात कह रहे हैं। अन्तरायकर्म विघ्न है। दो के बीच में कुछ आ गया उसके मायने अन्तराय है। जैसे दान देने वाला और दान लेने वाला है और उसके बीच में कोई अटक आ गयी तो वह भावरूप हो गयी या कुछ परिस्थितिवश हो गई उसको अन्तराय कहते हैं। अपनी सामर्थ्य से जीवों को प्राप्त होने वाली शक्ति में दान आदिक में विघ्न करे उसे अन्तराय धर्म कहते हैं। जैसे किसी सेठ की चाह है कि मैं 100) दान करूँ, बीच में मुनीम कुछ ऐसी बात रख दे कि इस समय दान देने की गुंजाइश नहीं है तो वह दानमें अन्तराय आ गया। इसी तरह कोई घर खूब समर्थ है, लाखों का धन है, सारी बातें ठीक हैं पर घर का कोई आदमी ऐसी व्याधि से घिर जाय कि डाक्टर उसे जीवन भर केवल मूंग की दाल का पानी पीने को कहे तो सब कुछ घर में होते हुए भी वह खा नहीं सकता, सभी चीजों

को देखकर वह खाने की इच्छा करता है पर खा नहीं पाता है तो यह उसके अन्तराय का उदय है। ऐसे ही और भी अनेक बातें हैं। तो उदय की बड़ी विचित्रताएँ हैं। सोचो और कुछ होता है कुछ। यह अपने जीवन में सबके घटित है लेकिन ज्ञानी जीव तो इस सम्बंध में यह चिन्तन कर रहा है कि यह सब कर्मफल है। हो तो हो, न हो तो न हो, भोग पाये तो क्या, न भोग पाये तो क्या, ये सब कर्मफल हैं। और इन भोगों को भोगेंगे तो उसके जो भाव बनते हैं वे भाव भी कर्मफल हैं। मैं न विभावरूप हूँ, न अन्य किसी रूप हूँ। इस प्रकार कर्मफलों से भी निराला अपने आपका यह चिन्तन कर रहा है विपाकविचय धर्मध्यानी जीव। इस अन्तराय कर्म में जो 5 अन्तराय बताये हैं—दानअन्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। इससे अब अन्तराय कर्म का बिल्कुल क्षय हो जाता है तो स्पष्ट रूप से अनन्त वीर्यप्रकट होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये 5 ज्ञान बताये हैं। इन 5 ज्ञानों के आवरण हैं। जब इन 5 ज्ञानावरणों का क्षय हो जाता है तो केवलज्ञान प्रकट होता है। ऐसे ही 5 ज्ञानावरण नष्ट हो गए तो 5 ज्ञान प्रकट हो जाँएँ। एक केवलज्ञान प्रकट होता है। वे चार तो एक देशरूप हैं, विशुद्ध ज्ञान नहीं हैं। इस प्रकार जब 5 प्रकार का अन्तराय का क्षय हो जाता है तो आत्मा में अनन्त वीर्य प्रकट होता है। तो जैसे ज्ञानों में मूल ज्ञान केवलज्ञान है ऐसे ही आत्मा में अनन्त शक्ति है सो अनन्त शक्ति प्रकट होती है।

श्लोक-1665

मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिबलान्यति।

अपक्वपाचनायोगात्फलानीव वनस्पतेः॥1665॥

जीव ने अपने विभाव परिणामों के कारण जो कर्म बांधे हैं वे कर्म अपने समय पर उदय में आकर कर्मफल देते हैं। फिर भी ज्ञानी जीव उन कर्मों के उदय में आने से पहिले अपने निर्मल परिणामों के कारण, विशिष्ट विशुद्ध परिणामों के कारण उन कर्मों को जो कि बहुत बड़ा बल रखते थे, ज्ञानबल से परिणामों की विशुद्धता के बल से कर्मों की स्थिति घट जाती है, कर्मों का अनुभाग भी घट जाता है। कोई ऐसा ही ऐसा सुनकर रहे, जानकर रहे कि जो कर्म बाँध लिए जाते हैं उन कर्मों को अवश्य ही भोगना पड़ता है। और कर्मों के भोगने के मायने फिर यह हुआ कि नवीन कर्म उस समय और बंध गए। अब उसका उदयकाल आ गया तो नवीन कर्म बंध गए और नवीन कर्म फिर बँधेंगे। तो फिर कभी यह सिलसिला खतम ही न होगा। कैसे उद्धार होगा? उसके सम्बन्ध के लिए आचार्यदेव ने बताया है कि बांधे तो वे कर्म जरूर गए, पर आत्मबल से सम्यक्त्व और चारित्र के बल से वे कर्म हत बल कर दिये जाते हैं, मंद बल वाले बन जाते

हैं, और विधिवत् परिणामों की विशुद्धि बढ़े तो क्षय को भी प्राप्त हो जाते हैं। अब कुछ अपनी ओरसे भी इस जीव को जो कुछ भी भोगना पड़ता है वह अपनी ही करतूत के फल को भाव के परिणाम को भोगता है और करता भी जो कुछ है तो अपने परिणाम और अपनी विभावपरिणति, स्वभाव परिणति इनको ही करता है। आत्मा अपने से भिन्न अन्य किसी पदार्थ को नहीं करता। तो जैसे अन्य का कुछ करता नहीं, अन्य कुछ भोगता नहीं। इसी प्रकार यह भी समझिये कि आत्मा का अन्य किसी पदार्थ से सम्बंध ही कुछ नहीं। यथार्थता से विचारों तो लोक में जितने भी आत्मा हैं। चाहे मनुष्य हों, चाहे पशु-पक्षी, कीड़ा, मकोड़ा आदिक हों, किसी के आत्मा से किसी का कुछ भी सम्बंध नहीं है, लेकिन मोह की बलवत्ता देखो कि यह ज्ञानी पुरुष अपने घर में बसे हुए 2-4 जीवों को कितना अपना रहा है और उसके सिवाय शेष जीवों को कितना न्यारा, कितना प्रतिकूल, कितना बैरी समझते हैं। यह सब अज्ञान की बलवत्ता है। लोग धर्म करते हैं पर विधिपूर्वक धर्म करने की धुन नहीं है, एक नाम पर धर्म करते हैं। धर्म क्या चीज है, धर्म की विधि क्या है? इस ढंग से बात बने तो धर्म की दिशा में थोड़ा भी प्रयत्न हो तो भी बहुत फल दे सकता है, और विधि से बाहर बनकर रहे तो कितना भी श्रम कर डालें उसका फल नहीं होता। हर एक कर्तव्य में विधि होती है, विधि से बाहर कर्तव्य सफल नहीं हो पाता। धर्म की विधि है कि तत्त्वाभ्यास करके तत्त्व का अनूठा रस चखा जाय।

लोग कहने लगते कि हमारे पास तो इतना ज्ञान ही नहीं है हम कैसे चारित्र्य को ग्रहण करें, लेकिन यह उनका सिर्फ कहना मात्र है। अरे मनुष्य ही तो है। मनुष्य ही तो संयम पथ को ग्रहण करते हैं। मनुष्य ही बड़े-बड़े उपसर्ग सहें और अपने धर्म की बात पर डटे रहें और धर्म का पूर्ण विकास करें। ऐसा तो पूर्व में महापुरुषों ने किया। थोड़ी देर को एक प्रसंगरूप में विचार करें। यात्रा के लिए निकले हैं पर यात्रा करने का क्या लक्ष्य है और कैसी अपनी प्रवृत्ति बनाकर यात्रा करनी चाहिए—इस बात पर कितने लोगों ने दृष्टान्त दिया है और इसका पालन किया है। हमारी अहिंसा बढ़े, हमारा सत्यव्यवहार बढ़े, हम एक दूसरे से वात्सल्य रखें, एक दूसरे से अप्रेम न रखें, बैर न करें, ईर्ष्याभाव न करें, अपने शरीर का आराम, अपने इन्द्रिय के विषयों की पूर्ति ये हम नाना पद्धतियों से न करें। समताभाव रखें अधिकाधिक वस्तुस्वरूप की चर्चा सुनें, धर्म की बात बोलें, धर्म का व्यवहार बनायें, यों समता में बैठकर जयवाद करते हुए, प्रभुस्मरण करते हुए बैठे हैं तो बहुत-बहुत बाहर में भी धर्म की प्रभावना होती है और अपने में भी धर्म की प्रभावना होती है। हम किसी भी कार्य को करें उसे कई विधियों से अपनाना चाहिए। धर्म पालने की विधि में सर्वप्रथम यह बात तत्त्व निर्णय की कही है, हम पूजा में तो बहुत उपयोग रखें, बारह महीने की चर्चा की बात कह रहे हैं। बड़े बढ़ावा से वचन हों उसके लिए जो समय अधिक हो, परिश्रम भी हो, सब कुछ भी हो, मगर तत्त्व निर्णय की बात को दो-चार मिनट में भी न मिले तो क्या यह उनके हित की बात है?

हमें तत्त्वचर्चा से कुछ हित की बात मिलती है। कोई विधि ऐसी बनती है कि संसार के संकट सदा के लिए टल जाएं। ऐसी बात चित्त में न आये तो भला बतलावो कि धर्मपालन की दिशा में क्या कर रहे हैं? कर्म जो

लोक में ठसाठस भरे हैं और हम आप प्रत्येक जीव के साथ अनन्त कर्मवर्गणायें बसी हुई हैं और अनन्त कर्मवर्गणायें ऐसी साथ लगी हुई हैं कि जो कर्म बनने के उम्मीदवार हैं वे भी मरने पर साथ जाती हैं, बंधे हुए कर्म भी साथ जाते हैं और जो कर्मवर्गणायें उम्मीदवार हैं, कर्मरूप होने का जिनका काम है ऐसी अनेक कर्मवर्गणायें भी मरने पर जीव के साथ जाती हैं। देखिये उनका बन्धन कुछ नहीं। वे कर्म बंधे नहीं मगर वे कर्म उम्मीदवार हैं, लेकिन कैसा प्रसंग है कि मरने पर धनवैभव छूट जाता, शरीर छूट जाता और बंधे हुए कर्म भी खिरते नहीं। वे इतना बंधे होते हैं मगर जो बंधे नहीं हैं ऐसे भी नहीं कर्म बंधे लेकिन वे कर्म जीव के साथ जाते हैं। कितना संकटों से भरे हुए हैं हम आप लोग उसकी खबर नहीं है। यहाँ थोड़ी भी बात हुई तो कहते—हाय संकट घिर गए। अथवा कोई परीपह नहीं सह सकते, किसी के वचन नहीं सह सकते, अपनी इच्छाओं का रंच दमन भी नहीं कर सकते। झट घबड़ा जाते हैं। हाय हम पर बड़ा संकट है, पर इसकी कुछ भी खबर नहीं कि हममें कैसे कर्म बंधे हैं और कैसे उम्मीदवार कर्म साथ रहते हैं जो कि भव-भव में भटकाने के कारण हैं। उन सब कर्मों से दूर होना है तो हमें धर्म का आश्रय लेना होगा। धर्म नाम है आत्मस्वभाव का। बाहर में सभी जीवों के प्रति एक समान दृष्टि बनाने की आवश्यकता है। जैसे बाहर के लोग हैं उसी प्रकार ये घर के लोग हैं। जिस प्रकार ये घर के लोग हैं, जो स्वरूप रखते हैं उसी प्रकार बाहर के लोग हैं। हाँ व्यवस्था के प्रसंग में, जिम्मेदारी के प्रसंग में, गार्हस्थ्य के प्रसंग में, नीति के प्रसंग में थोड़ाकेन्द्रित बुद्धि बना लें कि हमारे जिम्मे तो घर के 10 आदमियों का भार है। ठीक है, निभा रहे हैं और काम इसी प्रकार चलेगा। मगर ये ही मेरे सब कुछ हैं, अन्य सब गैर हैं, इनके लिए ही मेरा तन, मन, धन, वचन है, इस प्रकार की बुद्धि बने यह अपने आपको धर्म से दूर कर देता है।

यदि एक गृहस्थी के पालन की जिम्मेदारी है तो उससे अधिक जिम्मेदारी आत्महित की है। हम अपना कुछ हित कर सकें, इस भाव में, इस सावधानी में, इस सुविधा में और सुगमता के अवसर में हम कुछ आत्महित का कार्य बना लें तो ठीक है और न बना सके तो अंदाज कीजिए कि अनंतकाल हमारा व्यतीत हो गया इस संसारमें भटकते-भटकते, कैसे-कैसे भव धारण किये, जिसके सुनते ही रोमाञ्च हो जाया। ऐसे कठिन-कठिन दुःख भोगे। अब तक हित न हो सका और आज हित का अवसर आया, उसे भी यदि विषयकषाय, ममता अहंकार में खो दिया तो यह भी अवसर गया, तो गृहस्थी पालने की जिम्मेदारी से भी अधिक जिम्मेदारी आत्मरक्षण की है। उसकी ओर दृष्टि क्यों नहीं जाती? और फिर 24 घंटे में कम से कम 5 मिनट तो धर्मलक्षण के लिए होने ही चाहिए। तत्त्वचिन्तन करना, आत्मध्यान करना यही है आत्मरक्षण की बात। मगर इस और कुछ धुनि ही नहीं है। अपना दिन-रात सारा समय परिवार रक्षण के लिए लगाते हैं। कितने ही लोग मैं लोक में बड़ा कहलाऊँ, मेरी इज्जत हो, मैं धनिक कहलाऊँ, अच्छे परिवार वाला कहलाऊँ, इसी बात के लिए जीवन भर अथक परिश्रम करते हैं, अन्त में हाथ कुछ नहीं लगता। मरण करके चले जाते हैं। बस तीन ही काम कर पाते हैं ये जीव पैदा होना, विषयकषायों में रमना और मरण करना। एक

का भैया गुजर गया। वह था बी. ए.पढ़ा हुआ। गुजरने के बाद कुछ लोग आते ही हैं। किसी ने पूछा कि तुम्हारा भैया अपने जीवन में क्या कर गया? तो क्या उत्तर मिला—क्या बताऊँ यार कारोनुमाया कर गए। बी. ए. किया, नौकर हुए, पेन्शन लिया और मर गए। ये ही तीन काम तो व्यापारी लोग करते हैं। पैदा हुए, व्यापार का काम सम्हाला और मर गए। कदाचित् मान लो आज की दुनिया में कहलाने वाला काम भी कोई कर जाय—परसेवा, देश सेवा, अपना बड़ा नाम फैल जाय, तिस पर भी क्या कर गए? करना तो वही काम है जिसके प्रमाद से शान्ति प्राप्त हो जाय। फिर कभी निराकुलता न उत्पन्न हो। दुनिया की नामवरी व्यर्थ है। जो होना हे होता है उसे रोके कौन? मगर जो नामवरी चाहे, दुनिया के लिए अपना कुछ नाम रख जाना चाहे वह व्यर्थ है किनमें नाम चाहते हैं? ये जो धनिक दीन लोग घूम रहे हैं, जो स्वयं दुःखीहैं, मलिन कर्मों के प्रेरे हैं उनमें नामवरी चाहते हैं। खूब निगाह करके देख लो, जिनमें अपना नाम चाहते हैं वे कोई प्रभु हैं क्या? मगर उनमें ही यह अज्ञानी जीव अपने नाम की चाह करता है। जिसको अपना सब कुछ मान लिया उसी से ही तो आशा कर रहे हैं। इन कर्म सहित संसारमें जन्म-मरण करने वाले जीवों में क्या विडम्बनाएँ हो रही हैं। यह जीव इस संसार में कर्मबन्धन करता है और उसके फल में उसे दुःख भोगना पड़ता है। ऐसा कर्मबन्धन है अपनी गलतियों से, अपनी इच्छा से, अपनी खोटी प्रवृत्तियों से। विषयकषायों के परिणामों से इस-इस प्रकार के कर्म बंधते हैं लेकिन ज्ञानबल हो, आत्मज्ञान हो, आत्मदृष्टि बने तो ऐसे प्रबल कर्म भी मंद शक्ति वाले हो जाते हैं।

श्लोक-1665

अपक्वपाकः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः।

क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः॥1665॥

जिन महापुरुषों का प्रमाद नष्ट हुआ है और सम्बर सुख परिणाम हुआ है ऐसे मुनीन्द्र अपने विरुद्ध उत्कृष्ट तपश्चरण के बल से, अन्तः विशुद्धि के बल से क्रम से गुण श्रेणी निर्जरा का आश्रय करके बिना पगे हुए जिनकी स्थिति आगे बहुत लम्बी है उन कर्मों की भी निर्जरा कर देता है। विभाव परिणाम में ऐसा बल है कि असंख्यात वर्षों की स्थिति वाले कर्मों को बाँध दे और स्वभाव परिणति स्वभाव आश्रय के परिणाम में इतना बल है कि असंख्याते भव में बांधे हुए कर्मों की निर्जरा कर सकता है। हम इस बात पर तो बड़ा बल देते हैं कि मोह बड़ा प्रबल है, इसके आगे किसी की नहीं चलती मोह बड़ा बलवान है, जो चीज अपनी नहीं, कर्मों के उदय का निमित्त पाकर होता है। विभावरूप है, हमारे स्वभाव से स्वरूप से मेल खाता नहीं है। उस ममता

परिणाम को तो महत्त्व दे रहे हैं कि मोह बड़ा बलवान है। और जो अपनी चीज है, अपना स्वरूप है अपने सत्त्व के कारण अपने आपमें है ऐसे ज्ञानगुण पर बल नहीं देते, ज्ञान बड़ा बलवान होता है। सम्यग्ज्ञान का विकास होवे तो असंख्याते भवों के बांधे हुए कर्म भी क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं, धुनि है मोह की। निर्मोह होने की धुनि नहीं है। जिसे समझ रखा है कि घर अच्छा बन जाय, धनवैभव बढ़ जाय, पुत्र स्त्री आदिक सब बड़े ऊँचे व्यवहार वाले बनें और बड़े-बड़े लोगों में मेरा नाम हो—यह जो धुनि बना रखी है इससे अधिक धुनि यह बनानी चाहिए कि मेरा उपयोग समस्त बाह्य से उठा हुआ हो, अपने आपके स्वरूप में लगा हुआ हो, अपने आपके स्वरूप का यह ज्ञान करता रहे, उसी की धुनि बनी रहे, वहाँ ही मैं रमा करूँ, अकेला बसूँ इस ही निजतत्त्व का मैं हो जाऊँ, सब कुछ भूल जाऊँ, इस प्रकार अपने आपमें लगन बनाने की धुनि नहीं जगती। है यह मोह का ही माहात्म्य। लेकिन यह धुनि बन सके उसका कारण भी तो नहीं जुटाना चाहते। उसका कारण है तत्त्व का अभ्यास और सत्संगति। ये दो खास चीजें हैं, सो अपने जीवन को देख लीजिए कि शास्त्र के अभ्यास में हम कितना समय बिताते हैं और गप्पों में कितना समय लगाते हैं? बिना अभ्यास के कुछ भी काम बनता नहीं है। कुछ काम ऐसे होते हैं कि जो यों ही सिखाने से नहीं आते, प्रकटिकल करके आते हैं।

एक लड़का अपनी माँसे कहने लगा—माँमुझे तैरना सिखा दे और इस तरह से सिखा दे जैसे कि अमुक तैर लेता है।.....हा बेटा सिखा देंगे।.....मगर माँमुझे पानी में तैरना न पड़े। बिना तैरे वह तैरना आ जाया।.....भला बतलावो तो सही कि वह प्रयोगात्मक काम बिना प्रयोग करके सीखे हुए कैसे आ सकता है? अभी आप लोग ही जीवन भर से देखते आ रहे हैं कि आटा इस तरह से साना जाता है, रोटियाँ इस तरह से बनाकर पकायी जाती हैं—मगर आपके सामने यदि आटा धर दिया जाय और कहा जाय कि रोटियाँ बनाओ तो आप रोटियाँ बना न सकेंगे। उसका कारण क्या है? कारण यह है कि अपने जीवन में कभी भी प्रयोग करके रोटियाँ नहीं बनाया है। रोटियाँ बनाना, तैरना आदि यों ही बातों से सीखने से नहीं आ जाते हैं। ये तो प्रयोगात्मक कार्य हैं, प्रयोग की विधि से सीखने पर आयेंगे। यह वैभव विनाशीक है, यह सदा रहने वाली चीज नहीं है, स्वप्नवत् है, मायाजाल है। अपना कुछ भी नहीं है, मानने-मानने की बात है और तत्त्व इसमें कुछ भी नहीं। इनको त्यागकर ही तीर्थंकरों ने शान्ति प्राप्त की है। जिस तरह से बालक लोग रेत में मिट्टी का भिदोना बनाते हैं, उसको देखकर खुश होते हैं, कुछ भी देर बाद उस भिदोना को खुद ही मिटाकर या दूसरे बालक मिटाकर अपने घर चले जाते हैं। ऐसे ही ये सांसारिक समागम हैं। जो कुछ भी दृश्यमान पदार्थ हैं उनका संग्रह विग्रह लोग करते हैं, खुशी मानते हैं और अन्त में उसे छोड़कर चले जाते हैं। तो इन सांसारिक समागमों को असार समझकर तीर्थंकरों ने इनको त्यागा। यदि इन सांसारिक चीजों में ममता का परिणाम जगा तो मरण के समय में इसका फल बुरा भोगना पड़ता है। मरण के समय में वह विकल होगा।

और उस विकलता के कारण उसे नीच गति में जन्म लेना होगा। तो अपने पूर्ण जीवन में अपने परिणामों की सम्हाल रखना अत्यन्त आवश्यक है।

श्लोक-1666

द्रव्याद्युत्कृष्टसामग्रीमासाद्योग्रतपोबलात्।

कर्माणि घातयन्त्युच्चैस्तूर्यध्यानेन योगिनः॥1666॥

व्यतीत हुए अनन्त समयों के बाद जिस किसी भी निकट भव्य जीव को अपने आपके स्वरूप का बोध होता है उस मुनि पुरुष के यहाँ विपाकविचय धर्मध्यान की चर्चा चल रही है। कर्मफल का चिन्तन करना सो विपाकविचय धर्मध्यान है। कर्म क्याहैं, मैं क्या हूँ, फल क्याहै, भेदविज्ञान विधिपूर्वक जिसमें स्वातन्त्र्य की सुधि न भूलें इस पद्धति पूर्वक कर्मविपाक का चिन्तन होना और विपाक तो एक उपलक्षण शब्द है। कर्म के सम्वर निर्जरा आदिक का चिन्तन होना वह सब विपाकविचय धर्मध्यान है। ये कर्म कैसे दूर होते हैं, उनके दूर करने के लिए कर्मों के बारे में हम दृष्टि गड़ायें, उनकी जानकारी बनायें। उनके सामने रखकर उन्हें एक-एक पकड़कर निषेक करके उनका उत्पीड़न करना यह तो बात बन नहीं पाती। उसके उपाय में अपने सम्हाल की बात है। अपनी सम्हाल हुई कि कर्मों का निर्जरण होगा। अपनी सम्हाल के बिना अपनी रक्षा नहीं है। और अपनी सम्हाल यह है कि हम अपने स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान करें। मैं क्या हूँ? जिसने यह निर्णय नहीं कर पाया कि मैं क्या हूँवह अपने बारे में और करेगा क्या? शान्तिमार्ग निभेगा कहाँ से? इस कारण सर्वप्रथम अपने निर्णय की धुन होना चाहिए। मैं क्या हूँ? समझ तो जाऊँ खुद को, यह खुद बला है अथवा कोई वैभवहै। जिसने खुद को अन्य रूप से जाना उसके लिए तो बला है और जिसने स्वयं का जैसा मेरा स्वरूप है उस रूप से पहिचाना, उसके लिए वैभव है। यों साधारण शब्दों में कहो कि आत्मानुभव नहीं है एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक। घोर मिथ्यादृष्टि से लेकर सिद्ध भगवान तक किसी जीव को आत्मानुभव नहीं है। आत्मानुभव बिना सुख-दुःख की प्रक्रिया चल सकेगी क्या? अज्ञानी है वह भी अपना अनुभव कर रहा है, फर्क सिर्फ इतना है कि अज्ञानी अपने को अनात्मरूप से अनुभव रहा है। जो कुछ गुजरता है, जो रागद्वेष होता है तद्रूप आत्मा का अनुभव रहता है। इतने से ही महान अन्तर हो गया। और ज्ञानी पुरुष महात्मा अन्तरात्मा अपने आपका जैसा स्वयं स्वरूप है, सहज अपने सत्त्व के कारण जैसा जो कुछ बनाहै स्वरूप, उस रूप में अनुभवता है, पर उन सब अनुभवनों का नाम आत्मानुभव नहीं क्योंकि उन अनुभवनों की पद्धति का कुछ प्रयोजन नहीं, कोई हित की बात में आता नहीं है। वैसे अपने आपका पता सबको है। कोई अपने

को मैं ऐसा हूँ, लखपति हूँ, धनी हूँ, ज्ञानी हूँ, समझदार हूँ, अमुकचंद हूँ, इतने बेटों का बाप हूँ आदिक रूप से अपने को जाने तो इसमें तत्त्व क्या निकला? लोक में सबसे बड़ी गंदी भीख है दूसरों से प्रशंसा की चाह करना। इससे गंदी भीख और कुछ नहीं हो सकती। दो रोटियाँ कहीं सं मांग लावे तो वह उतनी गंदी भीख नहीं है, उससे पेट तो भरा, कुछ शान्ति तो मिली, जीवन तो चला। और कर्मों के प्रेरे, विभावों से मलिन, स्वयं जन्म-मरण के चक्र में बसे हुए स्वयं अनाथा जिनकी रक्षा करने वाला कोई नहीं, अज्ञान अंधेरे में पड़े ये लोग, इनसे यह आशा रखना, इनसे यह चाह करना कि ये लोग मुझे अच्छा समझ लें। मेरे बारे में कुछ प्रशंसा कर दें, इस प्रकार उनसे प्रशंसा बढ़ाने की कुछ भी बात चाहना इससे बड़ी भीख और किसे कहा जाय? न इससे अपनी आजीविका का काम बनता और न परलोक का सुधार होता, ऐसी आशा बनाना बहुत गंदी बात है। ज्ञानी पुरुष के ऐसी अन्तः आकांक्षाएँ नहीं होती। उसे स्पष्ट स्वरूप सामने बना हुआ है। आत्मा की सम्हाल में सब सम्हाल है। आत्मा की सुध भूलने में सब विडम्बनाएँ हैं। सो कर्म निर्जरण के सम्बंध में कहा जा रहा है कि योगीश्वर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की उत्कृष्ट सामग्री को प्राप्त होकर तीव्र तप के वश से इस विपाकविचय धर्मध्यान के मुख्य संस्थानविचय का आश्रय करके कर्म निर्जरण करता है।

महिमा हे सब अपने निकट पहुँचने की। जिस विधि से जिस ध्यान से, जिस चिन्तन से, पर से उपयोग हटे। अपने स्वरूप की ओर उपयोग लगे, महिमा उसकी है। जितने भी धर्म कर्तव्य हैं उन सब कर्तव्यों की करतूत में महिमा उसकी है जितना कि यह मोह से हटकर अपने आपमें विश्राम पाने की स्थिति पाता है। कोई कहे कि धर्मपालन करने में क्या करना है तो उसके दसों उत्तर न होंगे, और दसों उत्तर होंगे तो वे धर्मपालन के साधनरूप होंगे। उसका उत्तर एक होगा। धर्मपालन करे अर्थात् अपने स्वरूप की समझ करके उसका ही उपयोग बनाये रहें, यही है धर्मपालन। ऐसी स्थिति बनाने के लिए तो कुछ हम करते हैं व्रत लें, नियम लें, तत्त्वाभ्यास करें, स्वाध्याय करें, गुरुसेवा करें, जो कुछ भी करें वह धर्मपालन कहलाने लगे। क्योंकि उन सब कर्तव्यों का उद्देश्य यह परमार्थ धर्मपालन है। तो अपने आपको जानना और अपने आपके उस स्वरूप का उपयोग रखना यही है धर्मपालन। इसके लिए ही यह सब चिन्तन चल रहा है। वस्तु के एकत्व का परिचय पा लेना यही है दुर्लभ वैभव की प्राप्ति। इस ही को कहते हैं यथार्थ ज्ञान। प्रत्येक पदार्थ पर से अलिप्त है। स्वयं के स्वरूप चतुष्टय में तन्मय है। इस प्रकार का जो तत्त्वदर्शन होता है वह है यथार्थ प्रकाश। और इस प्रकाश को पाकर यह ज्ञानी जीव परतत्त्वों से विकल्प तोड़कर अपने आपके आनन्द स्वभाव में उपयोगी होता है। यह बात जिस किसी भी चिन्तन से आये वह चिन्तन भी जयवंत के योग्य है। जिसे अपने आत्मस्वरूप का कुछ बोध हो गया है वह किसी बालक के मुख से कुछ शब्दों को ही सुनकर अपने हित की बात प्राप्त कर लेता है। इस जीव ने भव-भव में अनेक साधनपाये पर एक आत्मतत्त्व का अनुभव नहीं प्राप्त किया। अनादिकाल से अनन्त परिवर्तन किया, उन सब भ्रमणों में इस जीव ने ऐसी-ऐसी चाह की कि सारे जगत पर मैं एक छत्र राज्य करूँ। उसका स्वामी बनूँ। इसने पञ्चेन्द्रिय के विषयों में भव-भव में

बहुत-बहुत रमण किया, बहुत-बहुत सी चीजें अपने अन्दर में किया पर आज देखो तो यह रीता का ही रीता है। इसने काम विकार भोग सम्बंधी कषायें तो बहुत सुनी, पर अपने आपकी बात जो अपने अंतःप्रकाशमान है उसको कभी नहीं सुना। यह अंतःप्रकाश अपने आपमें स्थित है पर कभी इसका उपयोग नहीं किया। इस जीव ने अपने को विषयकषायों से मिला-जुला अनुभव किया पर जो परमात्मतत्त्व है, समयसार है वह दब गया। उसकी जानकारी अब नहीं रही। स्वयं को नहीं जानना चाहा, दूसरों को जानकारीमें लिया पर उसकी उपासना नहीं करना चाहा। अब कैसे इसका मार्ग प्रकट हो? अपने आपके इस एकत्व स्वरूप का अपने ही सत्त्व के कारण जो कुछ उसका स्वरूप है उस स्वरूप का परिचय नहीं है, इसीलिए संसार में इतनी भटकनाएँ बन गयी। खूब तो शास्त्राभ्यास करे और अच्छी सत्संगति बनाये, ये दो बातें मुख्य हैं अपने आपके उद्धार के लिए। और ऐसी अपनी कोई चर्चा बनेगी, उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये सब मिलेंगे, जिस उत्कृष्ट सामग्री को पाकर यह जीव कर्मों की निर्जरा करता है।

श्लोक-1667

विलीनाशेषकर्माणि स्फुरन्तमतिनिर्मलम्।

स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत्॥1667॥

जिस ज्ञानी पुरुष के अन्तः कर्म विलीन हो गए हैं उस ज्ञानी पुरुष के उपयोग में निर्मल स्फुरायमान स्वरूप समाया हुआ चला जा रहा है। देखो कर्म नाम किसका है और कर्म नाम कैसे कहाँ से बन गया? जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं। खुद की बात सोचो। क्या करता है यह जीव? अब चतुष्टय को दृष्टि में रखिये। यह आत्मा जैसा पिण्ड रूप है, जैसा निजी क्षेत्र में है, जैसा निजी स्वभाव भाव गुणरूप हैं, उतने को यह है आत्मा ऐसा देखकर फिर उसमें यह निर्णय बनावें कि यह कर क्या सकता है? अपना परिणामन, अपना उत्पाद। यह भावक तत्त्व है। भाव ही तो कर सकता है। किया इसने भाव विभाव, उसी का नाम कर्म है। विभाव भावरूप कर्म का निमित्त पाकर जो विस्रसोपचयरूप अनन्त कार्माणवर्गणायें जीव के साथ लग रही हैं वे कर्मरूप बन गए, इसका नाम पड़ गया अब कर्म। नाम रहा अपने विभाव कर्मों का मुख्य नाम रहा अपने विभाव। जिस जीव ने अपने रागद्वेष विभावों को विलीन कर दिया उसे ही आत्मा का अनुभवन होता है, उसे ही आत्मीय आनन्द की झलक होती है। वह आनन्दानुभव और वह ज्ञानप्रकाश का सम्वेदन वह तत्त्व हितकारी बताया है। अति दुर्लभ है और यह वैभव, यह कुटुम्ब, यह परिवार ये सब क्या हैं? ये भिन्न पदार्थ हैं। हमारे विभावों के आश्रयभूत हैं, ये सब दुर्लभ नहीं, ये सब परमहितरूप नहीं। यह तो जान लो जो

हे सो है, पर आत्मा का हित है अपने आपको ज्ञानप्रकाश मात्र सम्बोधने में। और उसके फलस्वरूप आत्मीय आनन्द के अनुभवन में इसमें ही हित है, अन्य बात में हित नहीं है। लेवें अपने स्वरूप को और लेते जायें अपने आपके निकट और निरखते जावें, अन्य पदार्थों का, परभावों का विकल्प न जगे, अपने आपके परमात्मतत्त्व की प्राप्ति कर ली जाय, जिसके प्रताप से संसार के सारे संकट दूर होते हैं, वह आत्मस्वरूप का ग्रहण जयवंत हो, यह सभी के प्रकट हो। बाहर में धनवैभव की बात ऐसी है कि वह सीमित है, इह धन वैभव के पीछे लोग ईर्ष्या कर रहे हैं और यह चाह कर सकते हैं कि यह सारा का सारा धन मेरे पास आ जाय। लेकिन यह आत्मदर्शन आत्मकल्याण की बात नहीं है। यह सबकी अपने आपकी निजी बात है। इसमें ईर्ष्या का क्या अवसर? यह इन सब संसारियों के प्रगट हो। और ऐसे इस ध्यान का चिन्तन करने वाले ज्ञान की यह भी छूटछाट नहीं है कि भव्य के प्रकट हो, अभव्य के न हो। ज्ञानी के विकल्प में भव्य अभव्य की बात नहीं आ रही है, उसको तो केवल एक परम आनन्दमय ज्ञानस्वरूप की बात आ रही है और कुछ जीवों पर करुणा की बात आ रही है, तो उसका यह भाव होता है कि सबके प्रगट हो। किसके प्रगट हो सकता है किसके नहीं प्रगट हो सकता है, यह चित्त में नहीं ले रहा ज्ञानी जीवा उसके चित्त में सर्व जीव कल्याण करें ऐसी बात आ रही है। सभी सुखी हो ऐसा विचार करते समय ज्ञानी के यह बात न आयगी कि जो पापी हैं वे दुःखी हों और जो पुण्य करें वे सुखी हों। यह विषय न्यारा है, इसीलिए बड़े हित की भावुकता में आकर अमृतचन्द्र सूरि ने अनेक कलशों में कहा है—यह अज्ञानरूप इतना बड़ा संसार है इसमें कौन अवगाहन करे? उस कारुण्य पुरुष के चित्त में यह बात नहीं है कि यह संसार अवगाहन करने योग्य है। क्या मतलब है इसमें? यह तो अपना चिन्तन है, अपना ध्यान है और उस खुशी में कि जिस तत्त्व के अनुभव करने पर खुद का प्रदत्त आनन्द उमड़ा है। सब जीवों को स्वरूप से अपना ध्यान निहारकर सबके उमड़ने की भाव परिणति बनाता है, सबकी यह बात हुई। करुणा का विस्तार जब होता है तो उसमें पात्र-अपात्र, भव्य-अभव्य, पाप-पुण्य इसमें ये कोई बीच में अटक नहीं होते हैं। जो परम करुणा का भाव रख रहा है। हालांकि उसके इस भाव से ऐसा हो नहीं जायगा। जीवन तो इस पद्धति से जिस ढंग से जिसकी जैसी योग्यता से जैसा होने को है उसका उस ही से होता है। कहीं इसके सोचने से न हो जायगा। यह तो अपने भाव बनाता है। सब जीवों के उस स्वरूप को देखो, सभी जीवों पर वह एक रस चैतन्यमात्र स्वरूप दिखने लगेगा। तब समझिये कि हम अपने आपके विशुद्ध स्वभाव में रत हुए हैं। ज्ञानी को सबसे पहिले तोयह जगत पागल सा दिखता है। कैसा पागल हो रहे हैं स्वरूप क्या, तत्त्व क्या है। परमात्मा खुद में ही तो बसा है। उसका तो कोई कुछ भी नहीं कर रहा, सब अचल हैं। जैसे किसी को बहुत बड़ी खुशी हो, मानो घर में बालक पैदा हुआ है अथवा और कोई बड़ी खुशी की बात होती है तो खुश होता हुआ जब बाजार में घूमता होगा तो उसे दुःखी लोग भी प्रसन्न ही दिखेंगे, वे बेचारे दुःखी है, शोक मग्न है यह विचार उसका न चलेगा। और जो दुःखी है वह बाहर के सभी लोगों को दुःखी अनुभव करता है, वह अन्य सुखी लोगों के सुख का अंदाज नहीं कर पाता। उसे यों

लगता कि ये जो लोग हँसते दिखते हैं, ये भीतर में खुश नहीं हैं। यह तो परिस्थिति है ऐसी कि ऐसा करना पड़ रहा है। तो यों ही ज्ञानी जीव के चूँकि उसके स्वरूप भावना की दृढ़ता है सो यों दिखता है कि ये सब काष्ठ पत्थर की तरह अचल हैं। कोई कुछ भी नहीं कर रहा, अब अज्ञान नहीं रहा कुछ भी, सभी बड़े समझदार हैं, सब ठीक हैं। और फिर आगे जब बढ़ता है तो यह बात भी नहीं दिखती। केवल उसे सर्वत्र वही चित्स्वरूप ही नजर आता है। यह खुद की स्थिति बनी ना इसकी, खुद की दृष्टि बनी ना, उसी के अनुसार सर्वत्र उसे नजर आ रहा है। अब वह कहाँमोह करे, किसे अपना और किसे गैर माने? ये घर के 4-6 प्राणी ही मेरे सब कुछ है, अन्य सब गैर हैं ऐसी हँसी करने की गुंजाइश ज्ञानी पुरुष के कहाँ है? यह ज्ञान इन समस्त अन्तः कर्मों का विलय करके अपने आपके अंगों में ही, निज के क्षेत्रों में ही पुरुषाकार निर्मल स्फुरायमान ज्ञान भाव को प्राप्त हुए ऐसे आत्मा का स्मरण करता है ऐसे अपने अंतस्तत्त्व का अनुभव न करता है।

श्लोक-1668

इति विविधविकल्पं कर्म चित्रस्वरूपम्, प्रतिसमयमुदीर्णं जन्मवर्त्यङ्गभाजाम्।
स्थिरचरविषयाणां भावयन्नस्ततन्द्रो दहति दुरितकक्षं संयमी शान्तमोहः॥1668॥

ज्ञानी की ऐसी लीला है कि क्षण-क्षण में बदल-बदलकर सामने आये तत्त्व श्रद्धान को निरखता रहता है। अभी अन्तः वैभव को देख रहा था, अब जरा विचारकर जाल को भी देखने लगा। है तो चीज, जब देखते हैं नाना भेद पड़े हुए हैं इन कर्मों में, इन औपाधिक भावों में से समस्त बाह्य रचनाओं में, और दूसरे विपाक में देखो ये सब त्रस स्थावर रूप रचनाएँ पड़ी हुई हैं। ये सब दिख रहे हैं, ये सब भी निमित्तभूत उपाधि सम्बंध की योग्यता, यह सारी बातों का समर्थन तो कर रहा है, ऐसे ही यह कर्मों का जैसा प्रति समय उदय चल रहा है कठिन है। अपनी चाही हुई बात भी हम न प्राप्त कर सकें तो वह भी तो कठिन सी लग रही है इससे बढ़कर कठिन इस जीव लोक में है वह कठिन उदय क्षण है, उदयरूप है, उनको भी संयमी मुनि निर्णीत होकर निज अन्तःस्वरूप में विहार करके इन समस्त पापजंगलों को अन्तर ज्ञानबल से अथवा अन्तः ध्यान अग्नि से इस समस्त अज्ञान वन को दग्ध कर देता है। कितना कर्मसमूह है, कैसा शरीरजाल है, कैसी अन्य-अन्य औपाधिकताएँ हैं, कितने पर प्रसंग है, पर उस प्रसंग से हटकर अपने-अपने नीचे आकर अपने में समाकर ज्ञानानुभव किया कि ये सारे के सारे पापवन जल जाते हैं और इस पर दृष्टि करके इसको नष्ट करने के लिए कोई यत्न की बात करे तो वह मूर्खता कर रहा है। नष्ट न होगा बल्कि और बढ़ता जाता

है। नदी में तैरने वाला कछुवा जरा सिर निकालकर तैर रहा हो नौ बीसों पक्षी उसे पकड़ने के लिए उद्यत रहते हैं और वह कछुवा घबड़ाकर इधर-उधर भागता रहता है। अरे कोई उस कछुवे को समझा दे—रे कछुवे तू क्यों व्यर्थ में दुःखी हो रहा है? तेरे में तो वह कला है कि एक भी संकट तेरे ऊपर न रहेंगे। वह क्या कला है? अरे पानी में 4-6 अंगुल डूब जा, फिर सारे पक्षी तेरा क्या बिगाड़ कर सकेंगे? ऐसे ही ये संसार के प्राणी अपनी उपयोग चोंच को बाहर निकालकर बाह्य के अभिमुख करके चल रहे हैं तो राजा, चोर, डाकू, परिजन, मित्रजन आदिक सभी आक्रमण कर रहे हैं। ये प्राणी घबड़ा रहे हैं, अपने उपयोग को बदल रहे हैं, कोई इन्हें समझा दे, रे प्राणी ! तू क्यों अपने उपयोग को बदलने का कष्ट कर रहा है। तेरे में तो एक कला ऐसी है कि ये सब उपद्रव एक साथ शान्त हो सकते हैं। वह क्या कला तेरे में है कि तू अपने आधारभूत उस ज्ञानसागर में डुबकी लगा ले, अपने स्वरूप में अपने उपयोग को लगा दे, अन्य सबसे मुख मोड़ ले तो फिर तुझे कौन सताने वाला है? वह तो अपनी अलौकिक दुनिया में पहुँच जाता है। ऐसे आत्मस्पर्श में यह सामर्थ्य है कि भव-भव के बांधे हुए कर्म पूर्ण नष्ट हो जाते हैं।

इत्थं कर्मकटुप्रपाककलिताः संसारघोराणवे,
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासन्तानसंतापिताः।

मृत्युत्पत्तिमहोमिजालनिचितामिथ्यात्ववातेरताः,
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्धयार्थिनः॥1669॥

इस संसाररूपी घोर समुद्र में यह प्राणी कर्मों के कटुक विपाक से सहित है। अनादि से जगत के प्राणी कर्मबन्ध रागभाव इनकी परम्परा की बातें चली आ रही हैं। इन दोनों में से हम किसको आदि में रखें? कर्मबन्ध पहिले था या रागभाव पहिले था? किसी को भी हम आदि में नहीं रख सकते, क्योंकि जिसे आदि में रखेंगे वह अहेतुक बनेगा मायने कल्पना कीजिए कि सर्वप्रथम जीव में रागभाव था उससे कर्मबन्ध हुआ, फिर उदयकाल में राग हुआ, यों परम्परा चल उठी तो सर्वप्रथम जो रागभाव था वह कैसे हो गया? यह आटोमैटिक है तो वह राग जीव में आदि से है और स्वभावरूप हुआ। जो उपाधि सन्निधान बिना हो वह सब स्वभाव है, सो रागभाव को प्रथम नहीं कह सकते, कर्मबन्ध को भी प्रथम नहीं कह सकते। क्योंकि, कर्म का यह सम्बन्ध रागविभाव के निमित्त बिना हुआ यह युक्ति में ही नहीं आ सकता। तो यों कर्मबन्ध रागादिक विभाव ये अनादि परम्परा से जीव के चले आ रहे हैं। उस परम्परा को छोड़ देने का पुरुषार्थ निकट भव्य जीव कर लेता है। वही सबसे महान कार्य है। संसार में सभी बातें सुगम हैं, सुलभ हैं, धनिक बनना, राजा बनना, यशस्वी बनना आदि पर ऐसा बोध होना दुर्लभ है जिसके प्रताप से यह कर्मबन्ध की परम्परा, यह राग

विभाव की परम्परा खतम हो जाया। यही महान कार्य है। इस हित कार्य को उत्पन्न करने के लिए जीव को सावधान गुप्त निष्प्रमाद होने की आवश्यकता है। लोक में बड़प्पन चाहना कि इस लोक में मैं कुछ हूँ ऐसी बात बैठालने की चाह होना यह एक बहुत बड़ा कलंक लगा हुआ है व्यर्थ का। किनमें चाह करते हो? जिनकी चाह करते हो वे सब अनित्य हैं। ये लोग मेरे को समझें, अरे ये लोग खुद अनित्य हैं। और मेरे को समझें ऐसा सोचने में जो मेरे में आया वह भी अनित्य है। और समझें जो कुछ वह समझ भी अनित्य है, यश भी अनित्य है, लेकिन यह अनित्य जीव अनित्य जीवों में अनित्य यश की अनित्य चाह कर रहा है। कितनी विडम्बना की बात है। लेकिन नित्य जीव है, परमार्थ स्वरूप है, उसकी तो न स्वयं को सुध है, न दूसरों को सुध है, उसकी महिमा की बात तो मन में आ नहीं रही। तो ऐसा एक विकट बन्धन बन गया है। किसी ने बाँधा नहीं, यह जीव स्वयं अपनी इच्छा से स्नेह से अपने आप बन्धन में बना है। स्वतंत्र होकर परतंत्र हुआ है। तो ऐसी स्थिति में हम आपकी जितनी जिम्मेदारी हित के लिए आज है यदि उस जिम्मेदारी को न निभाया तो दुर्गति ही समझिये।

इस जीव का आदि स्थान निगोद था। जरा यह ध्यान में लायें कि हम आप कितनी निम्न दुर्गतियों से उठकर आज कितनी अच्छी स्थिति में हैं? यह बात समझने के लिए कहा जा रहा है कि इस जीव का आदि स्थान निगोद था जब कभी भी निकलना हुआ उसके बाद। जहाँ एक श्वास में 18 बार जन्म मरण का प्रसंग हुआ करता था। एक श्वास का गणित आजकल के हिसाब से एक सेकेण्ड की लीजिए—एक सेकेण्ड में 23 बार जन्मा मरा व्यवहार में। निगोद से निकालकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति बना। साधारण वनस्पति तो था ही। निगोद शरीर ही वनस्पति का नाम है, सो स्थावरों के दुःख देख लीजिए—पृथ्वी खोदी जाती है। पहाड़ों में सुरंग लगाई जाती है। ये पृथ्वी के दुःख हैं। जल के दुःख क्या हैं? जल गरम किया जाता है, हवा को रबड़ के ट्यूब आदि में भर दिया जाता है, पंखा आदि से हवा को बिलोया जाता है और वनस्पति के दुःख सामने देख रहे हैं, पत्तियाँ तोड़ते, साग बनाते, पकाते। तो ऐसे नाना दुःख एकेन्द्रिय में रहकर इस जीव ने भोगा। कदाचित् दो इन्द्रिय जीव हुआ तो अब रसना इन्द्रिय के ज्ञान का और विकास बढ़ गया। इन एकेन्द्रिय जीवों के तो यह ज्ञान था ही नहीं। ये केंचुवा, जोंक आदि जीव मिट्टी में ही रहते, मिट्टी ही खाते, क्या जीवन है? मछली मारने लोग कांटे में केंचुवा फँसाकर पानी में डाल देते हैं, मछली उसे चोंटती है, वह केंचुवा भी मारा गया और वह मछली भी उसमें फँसकर अपने प्राण गवाँ देती है। तो ये एकेन्द्रिय जीव भी बुरी तरह मारे जाते हैं। तीन इन्द्रिय जीवों में एकेन्द्रिय का और विकास हो गया। घ्राणेन्द्रिय का ज्ञान भी वह करने लगा, आहार संज्ञा ही बनी रहा करती है, उन्हें भी लोग मार डालते हैं। कोई उन पर दया नहीं करते। बिच्छू आदिक जीवों को देखते ही लोग मार डालते हैं। चार इन्द्रिय जीव हुआ तो एकेन्द्रिय का और विकास हो गया। अब आँखों से देखने लगा। रूप रंग दिखने में आने लगे, विकास बढ़ गया मगर क्या स्थिति है? मन है नहीं, उपदेश शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते अपने कल्याण की बात बना नहीं सकते। वे

सब दुःखी हैं। अब पंचेन्द्रिय जीव में एकेन्द्रिय का और विकास हुआ, कर्म भी हो गए, पर मन बिना ये जीव हैं सो उनकी भी हालत उन ही जीवों जैसी समझिये। वे भी कोई हित की बात नहीं ग्रहण कर सकते हैं। उन मन वाले जीवों में बहुत से तो पशु है, पक्षी है, लेकिन वे तो इतनी निम्न दशा में है कि अपने मन की बात दूरों से कह भी नहीं सकते, दूसरों के मन की बात को समझ नहीं सकते। उनमें साक्षरात्मक वाणी नहीं है। नरकों से, देवों से, उन सबसे बढ़कर यह मनुष्य का जन्म है।

जहाँ दुःख है वहाँ दुःख से छूटने का उपाय भी मिलता है। जहाँ दुःख नहीं आता है वहाँ दुःख से छूटने का उपाय भी नहीं मिलता। जैसे भोगभूमिया जीव, देवगति के जीव इन्हें क्लेश नहीं आ रहे जिसे संसारी जन क्लेश कहा करते, न उन्हें आजीविका करनी पड़ती, न ठंड गरमी का दुःख भोगना पड़ता, मनचाही चीज उन्हें कल्पवृक्ष से प्राप्त होती है। इतना सुख में है ये भोगभूमिया जीव। तो ये मरकर ज्यादा से ज्यादा दूसरे स्वर्ग में उत्पन्न हो गए, इससे ऊँची गति नहीं मिलती। देव तो मरकर फिर देव हो नहीं सकते, उन्हें तो नीचे जन्म लेना ही पड़ता है और ये कर्मभूमिया मनुष्य जिन्हें नाना दुःख लगे हैं, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग और अपनी-अपनी कल्पनाएँ बना-बनाकर और भी नाना प्रकार के क्लेश, जहाँ लगे हुए हैं इस ही मनुष्य को तो यह अवसर है कि रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त कर सकता है, संयम धारण कर सकता है, निर्वाण प्राप्त कर सकता है। मनुष्य के नाते बात कही जा रही है। यहाँ वहाँ का भेद नहीं बताया जा रहा है। इतना श्रेष्ठ यह मनुष्यजन्म है। जरा उपयोग बदलें। सबसे भिन्न हूँ मैं ऐसी जरा समझ लेते हैं तो कितने ही क्लेश दूर हो जाते हैं। जहाँ अपनी सुध भूले, बाह्य में उपयोग किया, सम्बंध से निर्णय बनाया तो दुःख चतुर्गुणा हो गया। दुःख सुख तो ये हमारी ज्ञान कला पर निर्भर हैं। बाह्य वस्तुओं का संयोग वियोग होना यह तो एक साधन मात्र है, आश्रय है। विकल्प किए जाने से कोई परपदार्थ चित्त में रहना चाहिए, तो यों यह आश्रय भेद है। कला तो हमारी है जिसके कारण हम सुखी अथवा दुःखी होते। तो इस संसाररूपी घोर सागर में ये प्राणी कर्मविपाक भोगते चले आ रहे हैं, दुर्गतियों के महान संताप से आकुलित हैं। पर की ओर दृष्टि है ना, सो चैन नहीं है, क्योंकि यह उपयोग अपने आधार को त्यागकर केवल एक उन्मुखता की दृष्टि से यह पर की ओर लग गया है। तो जब स्थान भ्रष्ट हो गया तब इसे चैन कहाँसे मिले? अपने आपके स्थान में फिट हो जाय तब इसे शान्ति मिले। तो सोच लीजिए कि शान्ति पाने के लिए पर से कितनी दूर अपनी वृद्धि करनी है? जितने भी क्लेश हैं वे पर को अपनाने के कारण हैं, और पर अपना कभी होता नहीं। यह जीव रीता का ही रीता बना हुआ है। कुछ भी अपना नहीं बन सकता लेकिन यह मोह के उदय में इस बात पर कमर कसकर खड़ा है कि मेरे धन का संचय हो। पर के अपनाने की कला में ये जुटे हुए है। और पर होते हैं नहीं इसके। कैसे हों इसके? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से तन्मय है। अगर अपने स्वरूप में तन्मय न हों, परस्वरूप में भी तन्मय बन जायें तो फिर सत्ता ही नहीं रह सकती। फिर तो सर्व पदार्थों का अभाव हो

जायगा। इससे यह वस्तु का नियम सत्तासिद्ध अधिकार है कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से ही हैं पर स्वरूप से नहीं हैं।

अब सोचिये यह जीव, यह अनाथ, यह असहाय, यह अज्ञान, यह मूढ़, स्त्री, पुत्र, माता, पिता, धन, वैभव आदि परपदार्थों को कैसा अपने उपयोग में बसाये हुए हैं कि ये ही मेरे सर्वस्व हैं, बातचीत करके देख लो सभी को, सभी को ये परपदार्थ ही हितरूप प्रतीत हो रहे हैं, ये ही मेरे सब कुछ हैं, ऐसी पर में अपनायत की बुद्धि लगाये है जिसके कारण यह अपने आपमें चैन से नहीं रह सकता। मिथ्यात्व बैरी है जीव का। मोह ही बरबाद करने वाला एक बहुत कठिन बैरी है, हम आपका सबसे अधिक विरोधी है मोह। यह मोह इन जीवों को प्रिय लग रहा है, और जो परजीव हैं जिनका पर में कर्तव्य सम्भव ही नहीं है उन्हें अपना बैरी मानता है, विरोधी प्रतिकूल समझता है, यह सब मोह का प्रताप है। जैसे कोई दूसरा मेरा बैरी नहीं है, इसी प्रकार कोई दूसरा मेरा मित्र नहीं है। मेरा परिणमन करने वाला नहीं है, हो ही नहीं सकता, वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। प्रत्येक पदार्थ अपने एकत्व में ही ठहरा हुआ है, अपने स्वरूप में ही बस रहा है। जो विभाव परिणमन कर रहा हो, पुद्गल और जीव विभाव परिणमन करते हुए जीव पुद्गल को लिए हुए है, वह भी इसकी परिणति बन रही है। किसी पर की परिणति को यह जीव कर नहीं सकता और न कोई पर मेरी परिणति को कर सकता। निमित्तनैमित्तिक भाव सब व्यवस्थित है, इतने पर भी कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ की परिणति से परिणमता नहीं है। तो समझ लीजिए हम स्वरक्षित हैं, लेकिन ऐसी स्वरक्षितता हमारे उपयोग में कहाँ है। अतएव घबड़ाते हैं, बेचैन होते हैं। यों संसार के प्राणी इस संसारसागर में पड़े हुए दुःखरूपी बड़वानल के संताप से संतापित हैं। इस संसार में जन्म-मरण की बड़ी-बड़ी लहरें भरी हुई हैं। संसार क्या? जन्ममरण।

अपना ही जीवन देख लो। जब बच्चे थे तब माँ-बाप, भाई-बहिन तथा पड़ोसियों का कितना प्यार मिलता था? वे भी दिन गुजर गए, कुछ बड़े होने पर विद्या पढ़कर आनन्द प्राप्त किया। पढ़ने को जो पाठ मिला उसका याद करने व परीक्षा पास करने में सुख माना। वे भी दिन गुजर गए। अपनी-अपनी सभी लोग सोच लीजिए, सभी की यही बात है। फिर जो समय आया उसमें नाना प्रकार के मौज माने, वह भी समय जाता रहा। अब जो रहा-सहा समय है वह भी क्या समय है, कितना समय है। यों समय जा रहा है। यों निकल गया सब कुछ जो कुछ किया जा सकता था, बल था, बुद्धि थी, ये सब निकल गए। अब रहे-सहे थोड़े से समय में भी विषयकषायों की ही रुचि रही तो यह समय भी शीघ्र ही व्यर्थ में गुजर जाने वाला है। क्या कर रहा है यह जीव? जन्म-मरण और बीच का दुःख, ये ही तीन व्यवसाय हैं इस जीव के। बाकी तो इसके विषयभूत पदार्थ हैं। घर हो गया तो क्या हुआ, राग ही तो बनाया, बेचैनी ही तो बनाया। और क्या ये आगे साथ रहेंगे? पहिले भवों का कोई भी तो आज साथी नहीं है तो क्या ये लोग साथी हो जायेंगे? सर्व प्रकार से असार हैं, किनमें विश्वास लगायें, कौन पदार्थ रमणीक हैं, किनकी शरण गहे? जिनकी शरण गहा

वही से धोखे की लात लगी। मिला कुछ नहीं। फुटबाल की तरह जहाँ जाय वही से लात लगी। कौन फुटबाल से प्यार रखता है, क्या एक जगह रखने के लिए फुटबाल खरीदी जाती है? नहीं। वह तो इधर से उधर पैरों से ठुकराया ही जाता है। ऐसे ही यह जीव जहाँ गया जिनके भी निकट गया अशान्ति ही मिली। शान्ति नहीं प्राप्त हुई। अरे बाहर तो सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति है। अपने स्वरूप के निकट तो आये, उपयोग की ही तो बात है। एक जानने भर की ही तो समस्या है। जरा अपने इस उपयोग से अपने आपके स्वरूप को तो जानें, अपने स्वरूप में रमने का साहस तो करें, पर के विकल्पों को तो तोड़ें, अपने आपकी मग्नता से जो आनन्द होता है वह विशुद्ध आत्मीय आनन्द है। सारभूत बात यही है—बाहर में कहीं भी उपयोग को रमाया तो उसमें शान्ति प्राप्त नहीं होती ये संसार के जीव इस घोर समुद्र में जन्म मरण की तरंगों में जो बहे जा रहे हैं और मिथ्यात्वरूपी पवन की प्रेरणा जो मिली है जिसमें तरंग और लम्बी चौड़ी हो गई है। ऐसा है यह संसार दुःख का घर। जो आज अनुकूल है पाप का उदय आने पर ही त्योरी बदल देता है और अतिपरिचित भी अपरिचित होने लगते हैं।

इस जीव का सहाय अपना-अपना परिणाम है। जो लोक व्यवहार में भी एक दूसरे की मदद करता है वह मदद तभी तक तो की जा रही है जब तक वह कुछ अच्छा है, सदाचारी है। तो फिर दूसरे लोग मददगार हुए या उसका सदाचार मददगार हुआ? जीवों का अपना-अपना सदाचार अपने आपका साथी है, दूसरा कोई साथी नहीं है। ऐसे दुःख से परिपूर्ण इस संसार घोर सागर को जो अपने ज्ञानबल से अपने भुजबल से तैर लेते हैं वे पुरुष धन्य हैं। अपने आपके निर्णय में जैसे चला आया चलता जाया। जो कही राग अटका कि बस वह अटक गया, उसकी उन्नति समाप्त हो गई। राग आग है, यह राग आग इन संसारी जीवों को जला रही है, इसके बुझाने में समर्थ सम्यग्ज्ञानरूपी मेघ की जल वर्षा है, सर्व अग्नि शान्त हो जाया। जीव में विकल्पों से जो संताप बंध गए हैं सब दूर हो जाते हैं सम्यग्ज्ञान की भावना से। हमारा धन सम्यग्ज्ञान है, हमारा शरण सम्यग्ज्ञान है, हमें शान्ति में ले जाने वाला सम्यग्ज्ञान है, मुझे दुःखों से बचाने वाला मेरा सम्यग्ज्ञान है दूसरा कुछ नहीं। संकट तो इतने लगे हैं कि जिन पर दृष्टि देने से ऐसी घबडाहट होती है कि फिर धीरता ही नहीं रह सकती। मैं इन संकटों के आक्रमण से कैसे बचूँ? शरीर का सम्बंध, नाना प्रकार के कर्मों के उदय कर्मों का बंध आक्रमण और जन्म मरण ये सब लगे हैं। अभी मनुष्य हैं, मरकर न जाने कहाँ पैदा हो जायें। कहो कीड़ामकोड़ा बन जायें। कैसे विचित्र दुःख हैं इस जीव पर? लेकिन अपने आपके एकत्वस्वरूप की सम्हाल से ये सारे संकट, ये सारी विडम्बनाएँ एकदम समाप्त हो जाते हैं। एक अपने इस उपयोग को अपनी ओर मोड़ने का ही तो काम है। बहिर्मुख न हों, स्वोन्मुख हो जायें। कितना मोड़ना है, कोई बड़ा श्रम तो नहीं करना है। यों समझिये कि एक दो सूत का भी अन्तर नहीं है। अपना उपयोग बहिर्मुख हुआ था सो अन्तर्मुख करने में क्या कष्ट है, क्या अन्तर है? एक अपने ही प्रदेशों में रहते हुए यह उपयोग अन्तर्मुख बन जाय, इसमें उसे कितना लौटना है? कुछ भी नहीं। अति निकट की बात है।

यों स्व की ओर आते में जो परमविश्राम मिलता है। उस विश्राम में ही सामर्थ्य है कि भव-भव के बांधे हुए कर्म भी दूर हो जाते हैं। ऐसा कर्मों का विपाक के सम्बंध में चिन्तन हो और नष्ट होने के चिन्तन को विपाकविचय धर्मध्यान कहते हैं। सम्यग्ज्ञान करें, अपने आपमें रत हों तो हम अपना उद्धार कर सकते हैं।